जीवन-विज्ञान :
स्वस्थ समाज-रचना का संकल्प



युवाचार्य महाप्रज्ञ

तुलसी अध्यात्म नीडम् प्रकाशन

संपादक
मुनि दुलहराज

सौजन्य : मित्र परिषद्, कलकत्ता द्वारा स्थापित
युवाचार्य महाप्रज्ञ साहित्य प्रकाशन-कोष।

तृतीय संस्करण : १९८९

मूल्य : दस रुपये/प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूं, नागौर (राज०)
मुद्रक : जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं-३४१३०६।

Jeevan Vigyan :
Svasth Samaj-Rachna Ka Sankalp
Yuvacharya Mahaprajna
Rs. 10.00

प्रस्तुति

शिक्षा और समाज-व्यवस्था मे गहरा अनुबंध है। यह समाज-व्यवस्था के अनुरूप होकर ही समाज को लाभान्वित कर सकती है। उसका काम है समाज-व्यवस्था को गतिशील बनाने वाले व्यक्तित्वो का निर्माण।

हिन्दुस्तान लोकतत्रीय समाजवादी समाज-व्यवस्था का संकल्प लिए चल रहा है। लोकतन्त्र का आधार है जनमत का सम्मान और समाजवादी व्यवस्था का आधार है सामाजिक न्याय। इनकी सपूर्ति के लिए आर्थिक संतुलन और तकनीकी विकास जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है नैतिक या चारित्रिक विकास। समाजवाद की दुहाई के ३५ वर्ष बीत जाने पर भी जातिवाद, सप्रदायवाद, प्रान्तीय और भाषाई अलगाववाद का दृष्टिकोण नहीं बदला है, आर्थिक विषमता मे अन्तर नही आया है। क्या इसमे शिक्षा प्रणाली का कोई दोष नही है? यदि शिक्षा के द्वारा लोकतंत्रीय मूल्यो का विकास नही होता है तो उसकी सार्थकता मे संदेह किया जा सकता है। शिक्षा के क्षेत्र मे आज संदेह का वातावरण बना हुआ है। विद्यार्थी का भविष्य क्या है? यह प्रश्न आर्थिक परिप्रेक्ष्य मे भी उभरता है और वैयक्तिक जीवन के सन्दर्भ मे भी।

मनुष्य केवल सामाजिक नही है और वह केवल व्यक्ति भी नही है। वह संबंधो के कारण सामाजिक है और जन्मजात वैयक्तिकता (नेटिव इण्डिविज्वेलिटी) के कारण व्यक्ति है। शिक्षा मे सामाजिक और वैयक्तिक दोनों पहलुओ का समन्वय आवश्यक है। इसके द्वारा ही आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक मूल्यो का सामंजस्यपूर्ण विकास किया जा सकता है।

जीवन-विज्ञान मूल्यपरक शिक्षा की समन्वयात्मक प्रयोग-पद्धति है। उसमे सोलह मूल्य निर्धारित किए गए है। उनका वर्गीकरण इस प्रकार है—

१. सामाजिक मूल्य—(१) कर्त्तव्यनिष्ठा (२) स्वावलम्बन।
२. बौद्धिक-आध्यात्मिक मूल्य—(३) सत्य, (४) समन्वय, (५) सम्प्रदाय निरपेक्षता (६) मानवीय एकता।
३. मानसिक मूल्य—(७) मानसिक संतुलन (८) धैर्य।
४. नैतिक मूल्य—(९) प्रामाणिकता, (१०) करुणा, (११) सह-अस्तित्व।
५. आध्यात्मिक मूल्य—(१२) अनासक्ति, (१३) सहिष्णुता, (१४) मृदुता, (१५) अभय, (१६) आत्मानुशासन।

केवल सिद्धान्त-बोध के द्वारा विद्यार्थी अपनी अस्मिता को पहचान सके और सामाजिक न्याय के प्रति समर्पित हो सके, यह कम संभव है। इसके लिए सिद्धान्त और प्रयोग—दोनो का समन्वय आवश्यक है। राजस्थान माध्यमिक बोर्ड के द्वारा जीवन-विज्ञान पर चार पुस्तके तैयार कराई जा रही है। दो पुस्तके छठी से आठवी तथा दो पुस्तके नवी से ग्यारहवी कक्षा के लिए। उनमे मूल्य-विकास के प्रयोग और सिद्धान्त—दोनो समन्वित है।

श्री चन्दनमल बैद के शिक्षामन्त्रित्वकाल में राजस्थान के बारह विद्यालयो मे जीवन-विज्ञान का प्रयोग किया गया था। प्रत्येक विद्यालय के तीन-तीन अध्यापको को जीवन-विज्ञान की पद्धति का प्रशिक्षण दिया गया। उन अध्यापको ने सौ विद्यार्थियो पर उसका प्रयोग किया। पचास विद्यार्थी प्रयोग-वर्ग (एक्सपैरिमेटल ग्रुप) मे थे और पचास नियन्त्रण-वर्ग (कन्ट्रोल ग्रूप) मे। उनमे मनोवैज्ञानिक परीक्षण (साइकोलोजिकल टैस्ट) और शारीरिक परीक्षण (मेडिकल टैस्ट) किए गए। उसकी रिपोर्ट एन० सी० आर० टी० द्वारा तैयार की जा रही है। आज फिर उस प्रयोग की पुनरावृत्ति हो रही है। इस बार अधिक विद्यालय चुने गए है। इसमे शिक्षामत्री, शिक्षा आयुक्त, माध्यमिक शिक्षा-बोर्ड के चैयरमैन, राजस्थान राज्य शैक्षिक अनुसंधान एव प्रशिक्षण सस्थान, उदयपुर के निदेशक आदि सभी का योग है।

आचार्य तुलसी ने अणुव्रत की आचार-सहिता के माध्यम से अच्छे नागरिक का प्रारूप समाज के सामने रखा था। जीवन-विज्ञान उसकी क्रियान्विति का प्रयत्न है। इसका उद्देश्य है—

(१) बौद्धिक और भावनात्मक विकास का सतुलन।
(२) विवेक और सवेग मे सामजस्य।
(३) वैयक्तिकता और सामाजिकता मे सामजस्य।
(४) मानवीय सम्बन्धो मे परिवर्तन।
(५) नैतिक मूल्यो का विकास।
(६) आत्मानुशासन की क्षमता का विकास।
(७) मानवीय समस्या के प्रति सवेदनशीलता का विकास।

इनकी पूर्ति के लिए प्रथम कक्षा से ग्यारहवी कक्षा तक का पाठ्यक्रम और प्रयोगक्रम तैयार किया गया है।

स्वामी विवेकानन्द ने शताब्दीपूर्व कहा था—अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय होना चाहिए। आचार्य विनोबा भावे इस अपेक्षा को बार-बार दोहराते रहे। जीवन-विज्ञान मे इस अपेक्षा की पूर्ति की गई है। इसमे दर्शन, अध्यात्म, योग और कर्मशास्त्र के साथ शरीर विज्ञान, शरीरक्रियाविज्ञान, मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, जैव-रसायनशास्त्र और सृष्टि-सतुलन शास्त्र (इकोलोजी) का भी अपेक्षित अध्ययन कराया जाता है।

जीवन-विज्ञान की पृष्ठभूमि में व्यक्ति और समाज—दोनों को संतुलित मूल्य दिया गया है। समाज के संदर्भ से कटा हुआ व्यक्ति रामू भेड़िया बन सकता है, दार्शनिक और वैज्ञानिक नही बन सकता। व्यक्तिगत क्षमता के बिना वह विद्यालय का जीवन जीकर भी बौद्धिक विकास नही कर सकता। सामाजिक और वैयक्तिक दोनों अस्मिताओ का योग होने पर ही पूर्ण व्यक्तित्व विकसित होता है।

व्यक्तिगत जीवन स्वयंकृत कर्म के द्वारा निर्मित होता है। प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने कर्म के अनुरूप शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, स्वास्थ्य, आयु और सुखानुभूति प्राप्त करता है। हम कर्म-संस्कार को छोडकर व्यक्तित्व की सही व्याख्या नही कर सकते।

सामाजिक जीवन संबधो के द्वारा निर्मित होता है। सम्बन्ध का पहला सेतु है आनुवंशिकता (हेरिडिटी, जीन और क्रोमोसोम)। प्राणी अपने माता-पिता से संस्कार प्राप्त करता है, वातावरण और परिस्थिति से सीखता है। इसलिए सामाजिक संदर्भ के बिना भी व्यक्तित्व की पूर्ण व्याख्या नही की जा सकती।

हमारे व्यक्तित्व के दो पहलू है—सामाजिक और वैयक्तिक। जो वातावरण से प्रभावित है, वह सामाजिक है और जो कर्म-संस्कार से प्रभावित है, वह वैयक्तिक है। इन दोनो पहलुओं का संतुलन बनाए रखने के लिए कर्मवाद और परिस्थितिवाद, अध्यात्म और विज्ञान दोनो का अध्ययन आवश्यक है। साथ-साथ कर्म-संस्कार का परिष्कार और परिस्थिति का परिवर्तन भी आवश्यक है।

कर्म-संस्कार के परिष्कार का उपाय है भावशुद्धि और व्यवहारशुद्धि। व्यवहारशुद्धि के तीन रूप बनते है—

१. संयमपूर्ण व्यवहार।

२. प्रामाणिक व्यवहार—नैतिकता।

३. मृदु व्यवहार।

मनुष्य मे राग या आसक्ति का आवेश है, इसलिए वह असंयमपूर्ण व्यवहार करता है। उसमे लोभ का आवेश है, इसलिए वह अप्रामाणिक व्यवहार करता है। उसमे क्रोध और अहंकार का आवेश है, इसलिए वह क्रूर व्यवहार करता है। अवांछनीय व्यवहार का मूल हेतु है आवेश। जैसा आवेश वैसा व्यवहार—यह कर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण है। जैसा रसायन वैसा व्यवहार—यह मानसशास्त्रीय दृष्टिकोण है। उसके अनुसार व्यवहार के नियंत्रण-सूत्र नाडीतंत्रीय और ग्रंथितंत्रीय रसायन हैं। वे बदलते रहते हैं और उन्हें बदला जा सकता है। उन्हें बदलने का आध्यात्मिक सूत्र है—भावशुद्धि। जैसा भाव वैसा रसायन। भाव शुद्ध तो रसायन शुद्ध, भाव अशुद्ध तो रसायन भी

अशुद्ध । भाव का स्रोत सूक्ष्म शरीर है। रसायन हमारे स्थूल शरीर मे पैदा होते है । मानवीय व्यवहार की व्याख्या का आदि-सूत्र है कर्म का स्पन्दन । उसके दृश्य सूत्र है जैविक रसायन और जैविक-विद्युत् । इस शृंखला मे कर्म-स्पदन भाव का, भाव जैविक रसायन का, जैविक रसायन विचार और व्यवहार का कारण बनता है ।

कर्म-संस्कार के सचय का कारण है विचार और व्यवहार। विचार की एकाग्रता और व्यवहार शुद्धि की प्रणाली सिखाने पर पचास प्रतिशत शिक्षा सपन्न हो जाती है । शेष पचास प्रतिशत शिक्षा का क्षेत्र है बौद्धिक और कर्म-कौशल (टैक्नोलोजी) का विकास ।

तथ्यो का ज्ञान, देश और समाज के प्रति कर्त्तव्य का बोध, बौद्धिक शिक्षा के द्वारा हो सकता है । किन्तु आवेश-नियन्त्रण की प्रायोगिक शिक्षा के विना कर्त्तव्य का सही रूप मे पालन शक्य नही बनता । सामाजिक और आर्थिक विकास तकनीकी ज्ञान के द्वारा संभव हो सकता है पर उससे आर्थिक विषमता वाली व्यवस्था का परिवर्तन शक्य नही बनता । उसके लिए उस शिक्षा की जरूरत है, जो व्यक्ति को समाज के प्रति संवेदनशील बनाए, सृजनात्मक दृष्टिकोण का निर्माण करे ।

आज के विद्यार्थी को व्यवहार-शुद्धि का पाठ नही पढाया जाता, इसलिए वह समाज के साथ सामजस्य स्थापित करने मे सफल नही हो रहा है । उसे श्रमनिष्ठा का पाठ नही पढाया जाता, इसलिए वह अपनी आर्थिक समस्या सुलझाने मे सक्षम नही हो रहा है । उसे नैतिकता का पाठ नही पढाया जाता, इसलिए वह अपने राष्ट्रीय दायित्वो और कर्त्तव्यो का पालन नही कर पा रहा है ।

नई शिक्षा नीति के परिपार्श्व मे शिक्षा मे आमूलचूल परिवर्तन के स्वर उभर रहे है । केवल पढ़ाने की प्रणाली वदलने से आमूलचूल परिवर्तन नही होगा । उसके लिए शिक्षा के स्वरूप को वदलना आवश्यक है । उस स्वरूप की प्रतिष्ठा अपेक्षित है, जिससे वौद्धिक विकास, व्यवहार शुद्धि या नैतिकता, श्रमनिष्ठा और दायित्वबोध—इन सवकी समन्विति फलित हो सके ।

शिक्षा के वारे मे भारतीय चिंतन अभी स्वस्थ नही है । वड़े-वडे लोगो का स्वर है कि हमारी शिक्षा-प्रणाली गलत है । यह स्वर अनगिन वार पुनरुच्चारित हुआ है, पर अभी कोई समाधान नही निकल पाया है । हमारी दृष्टि मे यह ठीक नहीं है । शिक्षा प्रणाली गलत है, उसकी अपेक्षा यह कहना उचित होगा कि शिक्षा प्रणाली अपर्याप्त है । उसमे वौद्धिक विकास पर अधिक भार दिया गया है, भावात्मक विकास की उपेक्षा की गई है । यह असतुलन ही सिरदर्द बना हुआ है । अनुशासन, चरित्र-विकास तथा अपराधी मनोवृत्ति के परिवर्तन के लिए वौद्धिक विकास की अपेक्षा भावात्मक विकास अधिक

मूल्यवान् है। प्राथमिक शिक्षा की अनिवार्यता और उच्चशिक्षा केवल प्रतिभाशाली छात्र-छात्राओ के लिए, इस विवेक से ही शिक्षा की सार्थकता बढ़ सकती है।

प्रस्तुत पुस्तक मे जीवन-विज्ञान शिक्षा और समाज के संदर्भ मे चर्चित है। व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए इस चर्चा की उपयोगिता बुद्धिगम्य होगी। आचार्यश्री की अन्तःस्थ प्रेरणा, अणुव्रत और नैतिकता के व्यापक विकास की अभिप्सा, इसमें परिलक्षित है। मुनि दुलहराजजी की श्रमनिष्ठा और सहज स्फूर्ति ने इसे पुस्तक का रूप दिया। 'सा विद्या या विमुक्तये' का सूत्र विमुक्ति का नया भाष्य प्रस्तुत कर सकेगा, ऐसा मेरा संकल्प है।

खरनोटा
२८ अप्रैल १९८६

युवाचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रम

जीवन-विज्ञान : शिक्षा के संदर्भ में

व्यक्तित्व निर्माण का उपक्रम : जीवन-विज्ञान

कुछ यात्री नौका में उतरे। उन्हें गांव पहुंचना था। एक व्यक्ति से पूछा—'क्या सूरज के अस्त होते-होते हम गांव में पहुंच जाएंगे ?' उसने कहा—'धीरे चलोगे तो पहुंच जाओगे, तेज चलोगे तो नहीं पहुंच पाओगे।' बिलकुल उल्टी बात थी।

कुछ लोग तेज चलने लगे। भूमि ऊबड़-खाबड़ और पथरीली थी। वे एक-एक कर गिर गए। चोट लगी। वहीं रुक गए।

आज गति की इतनी तीव्रता हो गई है कि आदमी जल्दी पहुंचे, लेकिन कभी-कभी ऐसा होता है कि जल्दी पहुंचने वाला बीच में ही लड़खड़ा जाता है। जैसे-जैसे टेक्नोलोजी का विकास हो रहा है, वैसे-वैसे आदमी अनुभव कर रहा है कि उसे पीछे मुड़कर देखने की जरूरत हो गई है। वह समझता है कि आदमी बहुत आगे बढ़कर भी बहुत पिछड़ गया है। आज आदमी पिछड़ गया और 'रोबट' आगे बढ़ गया, कम्प्यूटर हावी हो गया। दूसरे शब्दों में आदमी पीछे रह गया और यंत्र आगे आ गया। यह गति की तीव्रता का एक परिणाम है।

प्रश्न है परिवर्तन का। बहुत वर्ष पहले आचार्यश्री ने धर्मक्रान्ति की आवश्यकता महसूस की थी। प्रेक्षा-ध्यान, अणुव्रत, जीवन-विज्ञान—ये सारे उसी धर्मक्रान्ति के चरण हैं। अणुव्रत से सब लोग परिचित हैं। प्रेक्षा-ध्यान से भी काफी लोग परिचित हैं, किन्तु जीवन-विज्ञान सबके लिए नया है। यह धर्मक्रान्ति का एक सूत्र बना है। धार्मिक व्यक्ति आत्मा, परमात्मा, जगत् आदि-आदि की दार्शनिक चर्चाएं करता है। यह धर्म-जगत् की मुख्य चर्चा है और आज का धार्मिक जगत् इसी में लगा हुआ प्रतीत होता है।

जीवन-विज्ञान का प्रारंभ आत्मा से नहीं होता। उसका प्रारम्भ शरीर और श्वास से होता है। हमारा यह निश्चित मत है कि जो इन दोनों को सही ढंग से नहीं जानता, उचित मूल्यांकन नहीं करता, वह आत्मा-परमात्मा को नहीं जान सकता। यह बात उल्टी लग सकती है, पर यह एक सच है। सभी धार्मिक ग्रन्थ यही बताते हैं कि शरीर अशुचि का भंडार है, घृण्य है, अपवित्र है। यह हजारों बार सुना गया और दोहराया भी गया। एक नए कोण से देखा तो प्रतीत हुआ कि शरीर के अतिरिक्त आत्मा और परमात्मा तक पहुंचने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। इसलिए जब तक शरीर को सही ढंग से नहीं समझा जाता, तब तक सारी बातें व्यर्थ हो जाती हैं।

व्यक्तित्व निर्माण का उपक्रम : जीवन-विज्ञान

कुछ यात्री नौका से उतरे। उन्हे गाव पहुंचना था। एक व्यक्ति से पूछा—'क्या सूरज के अस्त होते-होते हम गाव मे पहुंच जाएगे ?' उसने कहा—'धीरे चलोगे तो पहुच जाओगे, तेज चलोगे तो नही पहुच पाओगे।' विलकुल उल्टी वात थी।

कुछ लोग तेज चलने लगे। भूमि ऊवड-खावड और पथरीली थी। वे एक-एक कर गिर गए। चोट लगी। वही रुक गए।

आज गति की इतनी तीव्रता हो गई है कि आदमी जल्दी पहुचे, लेकिन कभी-कभी ऐसा होता है कि जलदी पहुचने वाला वीच मे ही लडखडा जाता है। जैसे-जैसे टेक्नोलोजी का विकास हो रहा है, वैसे-वैसे आदमी अनुभव कर रहा है कि उसे पीछे मुडकर देखने की जरूरत हो गई है। वह समझता है कि आदमी वहुत आगे वढकर भी वहुत पिछड गया है। आज आदमी पिछड गया और 'रोवट' आगे वढ़ गया, कंप्यूटर हावी हो गया। दूसरे शब्दो में आदमी पीछे रह गया और यत्र आगे आ गया। यह गति की तीव्रता का एक परिणाम है।

प्रश्न है परिवर्तन का। वहुत वर्ष पहले आचार्यश्री ने धर्मक्रान्ति की आवश्यकता महसूस की थी। प्रेक्षा-ध्यान, अणुव्रत, जीवन-विज्ञान—ये सारे उसी धर्मक्रान्ति के चरण हैं। अणुव्रत से सव लोग परिचित है। प्रेक्षा-ध्यान से भी काफी लोग परिचित है, किन्तु जीवन-विज्ञान सवके लिए नया है। यह धर्मक्रान्ति का एक सूत्र वना है। धार्मिक व्यक्ति आत्मा, परमात्मा, जगत् आदि-आदि की दार्शनिक चर्चाएं करता है। यह धर्म-जगत् की मुख्य चर्चा है और आज का धार्मिक जगत् इसी मे लगा हुआ प्रतीत होता है।

जीवन-विज्ञान का प्रारंभ आत्मा से नही होता। उसका प्रारम्भ शरीर और श्वास से होता है। हमारा यह निश्चित मत है कि जो इन दोनों को सही ढग से नही जानता, उचित मूल्यांकन नही करता, वह आत्मा-परमात्मा को नही जान सकता। यह वात उल्टी लग सकती है, पर यह एक मोड है। सभी धार्मिक ग्रन्थ यही वताते हैं कि शरीर अशुचि का भंडार है, खराव है, अपवित्र है। यह हजारो वार सुना गया और दोहराया भी गया। एक नए कोण से देखा तो प्रतीत हुआ कि शरीर के अतिरिक्त आत्मा और परमात्मा तक पहुंचने का हमारे पास कोई साधन नही है। इसलिए जव तक शरीर को सही ढग से नही समझा जाता, तव तक सारी वाते व्यर्थ वन जाती हैं।

प्रश्न होता है कि आज शिक्षा के क्षेत्र मे चरित्र, अनुशासन और नैतिकता का विकास क्यो नही हो रहा है ? और-और क्षेत्रों मे भी इनका विकास नही है, पर शिक्षा के क्षेत्र मे इनका विकास न होना अखरता है, क्योकि जीवन का निर्माण, व्यक्तित्व का निर्माण शिक्षा के माध्यम से ही होता है। ऐसा लगता है कि आज की शिक्षा मे बौद्धिक विकास पर तो बहुत बल दिया जा रहा है, उसको बढ़ाने के अनेक प्रयत्न किए जा रहे हैं, किन्तु शेष का विकास उपेक्षित है। यह स्पष्ट है कि जैसे-जैसे बुद्धि का विकास होता है, तर्क का विकास होता है, वैसे-वैसे अच्छाई करने की शक्ति भी आती है और बुराई करने की शक्ति भी आती है। वह बढ़ती है। आज ऐसा प्रतीत हो रहा है कि बौद्धिकता और तर्क ने चोरी, डकैती आदि का विकास किया है। बुद्धि और तर्क तो शस्त्र हैं। उन्हे जितना तेज करोगे उतने ही तेज बन जाएगे। शस्त्र का प्रयोग शल्य-चिकित्सा मे भी होता है और किसी को मारने मे भी होता है। बुद्धि और तर्क की भी यही अवस्था है। दार्शनिको ने अनेक समाधान तर्क के बलबूते पर दिए और उन्होने दर्शन को तर्कमय बना डाला। पर जब तक दर्शन समाधान नही बनता तब तक कुछ उपलब्ध नही होता।

एक वकील तेली के घर गया। वहा बैठा। बातचीत करने लगा। उसने पूछा—कोल्हू मे जुते बैल की आखो पर पट्टी क्यो बाध रखी है ? तेली बोला—'साहब ! आखो पर पट्टी इसलिए बाध रखी है कि बैल को पता न चले कि वह एक घेरे मे चक्कर लगा रहा है। यदि उसे यह ज्ञात हो जाए तो वह वही लडखडा जाएगा, आगे चल नही सकेगा।'

वकील ने दूसरा प्रश्न पूछा—'बैल के गले मे घटी क्यो बाध रखी है ? तेली बोला—'बैल चलता है तब घंटी बजती रहती है। मुझे पता लग जाता है कि बैल चल रहा है। घटी के न बजने का अर्थ होता है कि बैल रुक गया है। यह ज्ञात करने के लिए ही घटी बाध रखी है।' दार्शनिक ने फिर पूछा—'बैल खडे-खडे भी सिर हिलाकर घटी बजा सकता है। तुम्हे कैसे पता चलेगा कि वह चल रहा है या रुका हुआ है ?' तेली बोला—'महाशयजी ! वह बैल है, वकील नहीं है।'

दर्शन समाधान का सूत्र है। तर्क समाधान नही देता। वह उलझा देता है। दर्शन का अर्थ है साक्षात्कार। जीवन-विज्ञान मे दर्शन को महत्त्व दिया गया और इसे परिवर्तन का माध्यम बनाया गया।

प्रत्येक व्यक्ति बदले, यह इष्ट है। नया भी बदले और पुराना भी बदले। दोनो बदल सकते है। पहले हम यह सोचे कि नए बच्चे कैसे बदलें ? बदलने का एक विशेष अर्थ होगा। वह यह है कि हमारे पास दो शक्तिया है। एक है ज्ञान की शक्ति, विवेक की शक्ति (रीजनिंग माइन्ड)। दूसरी शक्ति

है—सवेग की शक्ति। यह बहुत बडी शक्ति है। सवेग और विवेक—इन दोनो का सघर्ष त्रैकालीन सघर्ष है। परिवर्तन का सूत्र है—विवेक का सवेग पर नियंत्रण। आज रीजनिग माइन्ड पर सवेग (इमोसन्स) हावी हो रहा है। यह न हो। आवेग या सवेग के द्वारा विवेक दवे नही, जागरूक रहे। जीवन-विज्ञान की परिभाषा है—विवेक और सवेग का सतुलन, बौद्धिक और भावात्मक सतुलन। पूरे व्यक्तित्व निर्माण के लिए आवश्यक है कि पचास प्रतिशत विकास बौद्धिक हो और पचास प्रतिशत विकास भावात्मक हो। यह सतुलन होने पर ही पूरे व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

हमारे शरीर मे ऐसे केन्द्र है जिनके द्वारा जीवन मे परिवर्तन किया जा सकता है। शरीर मे सारी शक्तिया है, लेकिन हम स्विच-ऑन करना नही जानते। इसलिए वे सारी शक्तिया सुप्त ही रह जाती है, व्यर्थ चली जाती है। यदि हम स्विच-ऑन करना जान जाए तो शक्तिया जागृत हो सकती है। निषेधात्मक भावो को मिटाकर विधायक भावो को कैसे लाया जाए, उसकी सारी पद्धतिया शरीर मे विद्यमान है। किन्तु आदमी ने इस दृष्टि से शरीर को न देखा है, न समझा है। हमने जीवन-विज्ञान के संदर्भ मे उसे समझने का प्रयत्न किया है।

नए वच्चो के निर्माण के क्षेत्र मे एक नया उपक्रम प्रारम्भ हुआ है। उस उपक्रम से शिक्षा, जो अपर्याप्त है, वह पर्याप्त वनेगी, पूरी होगी।

पुराने लोगो को वदलने की वात भी महत्त्वपूर्ण है। आज हिसा और सग्रह की समस्याए है, उन्हे भी वदलना है। उनकी उपेक्षा नही की जा सकती। उपेक्षा मूल्यो की प्रतिष्ठा नही करती वल्कि उनका विघटन करती है। समाज मूल्यो के आधार पर चलता है, उपेक्षा के आधार पर नही चलता। उपेक्षा का क्या परिणाम होता है, हम इस घटना से समझे।

एक गाव के पास तालाव था। वह पानी से लवालव भरा हुआ था। चारो ओर वृक्ष थे। वहा एक हाथी सुस्ता रहा था। लडते-लडते दो गिरगिट वहा आए। वहा खड़े लोगो ने देखा, पर उन्होने उपेक्षा वरती। लोगो ने सोचा, हमे क्या, लडते हो तो लडे। ये छोटे-से प्राणी लडकर कौन-सा अनर्थ घटित कर देगे! इधर-उधर दौडते-दौडते वे दोनो गिरगिट हाथी के कान में घुस गए। हाथी के खुजलाहट होने लगी। वह वैचेन हो उठा। आवेश वढा और उसने कई पेड उखाड डाले। फिर उसने तालाव की पाल तोड दी। पानी वहा और वह गाव डूव गया।

उपेक्षा का परिणाम हुआ डूव जाना। कोई भी सामाजिक व्यक्ति उपेक्षा नही कर सकता।

आचार्यश्री दिल्ली मे थे। उन दिनो हिन्दुस्तान-पाकिस्तान का युद्ध चल रहा था। कुछ प्रोफेसर, लेक्चरार आए। हिसा अहिसा की वात चली।

आचार्यश्री ने एक कपड़ा हाथ मे लेकर कहा—इसके दो छोर है। एक को हमें परिग्रह का छोर कह सकते है और दूसरे को हिंसा का छोर कह सकते हैं। जब तक आदमी परिग्रह के छोर को पकड़े रहता है, तब तक हिंसा नही छूटती। परिग्रह नही है तो हिंसा होगी ही नही। हम हिंसा को बहुत महत्त्व दे देते है, किन्तु उसके मूल कारण को भुला बैठते है। हिंसा के लिए परिग्रह नही, परिग्रह के लिए हिंसा होती है। सग्रह के लिए हिंसा है, हिंसा के लिए संग्रह नही है। जब तक आदमी परिग्रही होता है, उसके लिए हिंसा अनिवार्य बन जाती है। वह न उसकी उपेक्षा कर सकता है और न उसको छोड सकता है। परिग्रह के होते हुए समाधान की बात जटिल हो जाती है।

परिग्रह का परिणाम है आग्रह और आग्रह का परिणाम है विग्रह। तीनो का एक चक्र बनता है—परिग्रह, आग्रह और विग्रह। जहा परिग्रह है वहां आग्रह होगा, पकड होगी। जब आग्रह होता है तब विग्रह अनिवार्य बन जाता है। आग्रह के बिना विग्रह हो नही सकता।

आदमी केवल विग्रह को मिटाना चाहता है, यह कभी सभव नही है। परिग्रह और आग्रह का जब तक समाधान नही हो जाता तब तक विग्रह का समाधान नही मिल सकता। वसंत चला जाता है, पतझड आ जाता है। एक जाता है, दूसरा आ जाता है। यह क्रम चलता रहता है। न पतझड को रोका जा सकता है और न वसन्त को रोका जा सकता है। हम जड की बात को पकड़ें, परिग्रह का समाधान-सूत्र खोजे, आग्रह और विग्रह स्वत. निर्मूल हो जाएगे।

परिग्रह ही सारी समस्याए पैदा कर रहा है। राष्ट्र का परिग्रह, राज्य का परिग्रह, औद्योगिक साम्राज्य का परिग्रह—ये सारे स्वामित्व समस्याए पैदा करते है। हिंसक समस्याओ से निपटने के दो उपाय हैं—हिंसा के प्रति हिंसा और अहिंसक प्रतिरोध। अहिंसक प्रतिरोध एक कारगर उपाय है। आज उसके लिए कोई मानसिक तैयारी नही है। उसका कोई प्रशिक्षण नही है। हिंसा का प्रशिक्षण प्रतिदिन दिया जा रहा है, पर अहिंसा का प्रशिक्षण कहा मिलता है? इस दयनीय स्थिति मे हम कैसे कहे कि आज अहिंसा के द्वारा हिंसा का प्रतिकार किया जा सकता है? आज मान लिया गया है कि हिंसा का प्रतिकार हिंसा है। बुद्धि यही तो काम करती है कि वह एक हिंसा को मिटाने के लिए दूसरी हिंसा प्रस्तुत कर देती है।

इसलिए उपेक्षा वाली बात भी समझ मे नही आती। अहिंसा की बात समझ मे आती है, पर उसका पालन कठिनाई से परे नही है। तब कोरा विकल्प हिंसा का रह गया। हिंसा समाधान-कारक विकल्प नही है। वह हिंसा को बढावा देने वाला विकल्प है।

पुरानी पीढी के रूपान्तरण की बात हम छोड़ दें। वह जैसे चल रही

है, चलने दें। पर नई पीढ़ी के लिए आवश्यक चिन्तन करें। संभव है पुराने लोगों की समस्या भी सुलझ जाए।

जीवन-विज्ञान का उपक्रम नए व्यक्तित्व के निर्माण का उपक्रम है। इससे नए समाज और नए जीवन की कल्पना पूरी हो सकती है।

व्यक्ति का समाजीकरण

हम स्वावलम्बन की बात करते है, किन्तु वास्तव में हमारा परस्परावलंबन है, जिसे हम कभी विस्मृत नही कर सकते। आदमी प्रातःकाल घूमने निकलता है। वृक्ष कुछ वायु छोडते हैं। वह आदमी के लिए प्राणवायु बन जाती है। आदमी प्राणवायु को भीतर ग्रहण करता है और निःश्वास के रूप मे कार्बनडाइओक्साइड का विसर्जन करता है। वृक्ष उसे ग्रहण करता है। वह वृक्ष को प्राण देने वाला बन जाता है। यह परस्परता है। केवल आदमी आदमी मे ही परस्परता नही है किन्तु प्रत्येक प्राणी के साथ हमारी परस्परता है। एक प्राणी दूसरे से जुडा हुआ है। जो मनुष्य के लिए अनुपयोगी बन गया, वह वनस्पति जगत् के लिए उपयोगी बन गया और जो वनस्पति जगत् के लिए अनुपयोगी बन गया, वह मनुष्य के लिए उपयोगी बन गया। सारी सृष्टि मे एक संतुलन बना हुआ है। सब एक दूसरे से जुडे हुए है। इन्हे पृथक् या विश्लेषित नही किया जा सकता। परस्परता से सब कुछ जुड़ा हुआ है। एक के लिए उपयोगी, दूसरे के लिए अनुपयोगी। एक के लिए अनुपयोगी, दूसरे के लिए उपयोगी।

शिक्षा का कार्य है कि उससे परस्परता की चेतना का विकास हो। यही है समाजीकरण का विकास। यही है उसका महत्त्वपूर्ण सूत्र। हम यह अनुभव करते है कि स्वार्थ बहुत बढा है, परमार्थ कम हुआ है। इसका कारण है कि आज की प्रचलित शिक्षा मे परमार्थ की चेतना को उजागर करने वाले तत्त्व कम है और स्वार्थ-चेतना के तत्त्व अधिक है। आदमी की चेतना परमार्थ तक जाती ही नही, वह स्वार्थ तक ही सीमित रह जाती है। व्यक्ति वैयक्तिक स्वार्थ साधना चाहता है। यही समूचे ससार मे हो रहा है। जिस समाज के व्यक्ति ने अपने वैयक्तिक स्वार्थ पर ध्यान अधिक दिया, वह समाज सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक—सभी दृष्टियो से पिछड गया। यदि एक अध्यापक छात्र पर पूरा ध्यान देता है तो छात्र का विकास होता है। यदि अध्यापक अपने स्वार्थ पर ध्यान देता है, स्व-केन्द्रित और स्वार्थ-केन्द्रित रहता है तो उसके एक स्वार्थ के कारण पूरे समाज को नुकसान होता है और वह स्वयं भी उस नुकसान से बच नही सकता।

आचार्य भिक्षु ने इस तथ्य को समझाने के लिए एक महत्त्वपूर्ण दृष्टात दिया है। चार ब्राह्मणो को एक गाय दान मे मिली। चारो का गाय में समुचित भाग था। चारो ने सोचा, इसका बटवारा कैसे किया जाए ? सोचा,

उपाय निकाला। यह तय हुआ कि एक-एक दिन प्रत्येक व्यक्ति गाय को दुहे और दूध का उपभोग करे। पहले दिन जिसकी बारी थी उसने दूध दुहा और सोचा, मैं इस गाय को क्यो दाना-पानी दू। मेरे पास तो यह कल रहेगी नही। कल जिसकी बारी है, वह इसे दाना-पानी देगा।

अगले दिन वाले ने भी दूध दुह लिया और दाना-पानी देने के समय उसी प्रकार सोचा जैसे पहले व्यक्ति ने सोचा था। चारो ने गाय का दूध दुहा पर उसे चारा-पानी नही दिया। धीरे-धीरे गाय दुबली हो गई, दूध सूख गया। गाय के मरने की स्थिति आ गई।

जिस समाज मे ऐसा चिंतन होता है कि दूध दुहा जाए, पर खिलाया-पिलाया न जाए, वह समाज विघटित हो जाता है। यह स्वार्थ-परायणता है। इस स्वार्थ का परमार्थीकरण परस्परता के सिद्धान्त पर किया जा सकता है। एक-दूसरे को काट कर कोई भी आदमी जी नही सकता। एक व्यक्ति दूसरे कितने व्यक्तियो से जुडा होता है—कपडा बुनने वाला भी चाहिए, कपडे सीने वाला और धोने वाला भी चाहिए, मोटरकार चलाने के लिए तेल भी चाहिए, बीमार के लिए दवाई और डाक्टर भी चाहिए, दवाई बनाने वाला और बेचने वाला भी चाहिए। परस्परता की बहुत लबी शृखला है। आदमी एक दूसरे से इतने जुडे हुए है कि उनका विस्तार सीमा पार गया है। इस स्थिति मे जो व्यक्ति केवल अपनी ही बात सोचता है, अपना ही स्वार्थ देखता है, दूसरो की ओर से आंखे मूद लेता है, ऐसा अज्ञान के कारण होता है। इसमे शिक्षा भी कारण बनती है। क्योकि उसने परस्परता की चेतना को जगाया नही। आज स्वार्थ प्रतिदिन बढ रहा है, उसका विकास हो रहा है।

समाजीकरण का दूसरा घटक है—सवेदनशीलता का विकास। जब तक यह सूत्र नही जुडता, तब तक सही अर्थ में समाज बनता ही नहीं। सवेदनशीलता का अर्थ है—एक दूसरे के कष्ट मे सहभागिता की अनुभूति। जब यह समाज मे आती है तब नैतिकता और प्रामाणिकता का विकास होता है और क्रूरता कम होती हैं। सवेदनशीलता का सूत्र जब टूट जाता है तब क्रूरता, अप्रामाणिकता, अनैतिकता, मिलावट आदि बुराइया बढती हैं। जब आदमी सवेदनशील नही होता तब वह दूसरो को कष्ट देने मे सकोच नही करता। जिस व्यक्ति मे यह भावना होती है कि दूसरो को कष्ट देने का अर्थ है स्वय को कष्ट देना, वह आदमी कभी बुराई नही कर सकता, धोखा नही दे सकता, क्रूर व्यवहार नही कर सकता। जब यह चेतना सिकुड जाती है, तब कोई भी क्रूर कर्म करने मे हिचकिचाहट नही होती।

सवेदनशीलता है एक दूसरे के साथ एकात्मकता का व्यवहार करना, तादात्म्य की अनुभूति के लिए व्यक्तित्व का परिष्कार करना। इसके लिए प्रयत्न करना होता है।

संवेग वैयक्तिक तत्त्व है। इसका परिष्कार करना बहुत जरूरी है। जीवन-विज्ञान की प्रक्रिया परिष्कार की प्रक्रिया है। सवेग के परिष्कार का अर्थ है निषेधात्मक भावो का परिष्कार। क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, घृणा—ये सब निषेधात्मक भाव है। विधायक भावो का जितना विकास होगा, उतना ही सवेदनशीलता का सूत्र आगे बढ़ेगा।

आनुवशिकता का परिष्कार भी संवेदन-परिष्कार के द्वारा किया जा सकता है। आनुवशिकता का प्रभाव व्यक्ति के चरित्र, नैतिकता और मानसिकता पर ज्यादा होता है।

एक लड़का बगीचे मे घुसा और आम के वृक्ष पर चढकर आम तोडने लगा। वह चोरी से ही आया था। माली ने उसे देख लिया। माली बोला—'चोरी करते हुए तुझे शरम नही आती? कहा है तेरा बाप?' लडका बोला—'वह दूसरे पेड़ पर आम तोड रहा है।'

जब बाप एक पेड पर चढा होता है तो लडका दूसरे पेड पर क्यो नही चढ़ेगा?

नैतिकता आनुवशिकता से प्रभावित होती है। सवेग-परिष्कार के द्वारा इसका भी परिष्कार किया जा सकता है। प्रश्न होता है कि सवेगो का परिष्कार कैसे किया जाए? बहुत कठिन समस्या है। मनोविज्ञान ने सवेगो की विस्तृत व्याख्या की है और व्यक्ति सवेगो से कितना प्रभावित होता है, यह भी विस्तार से बताया है। किंतु सवेगो का परिष्कार कैसे किया जाए—इसका मनोविज्ञान की अपेक्षा अध्यात्म, धर्म और योग मे अधिक वर्णन है। वहा अनेक तत्त्व बतलाए गए है। किन्तु कठिनाई यह है कि आज की शिक्षा मे अध्यात्म, धर्म और योग को अनावश्यक माना गया है। आवश्यक नही मानने का कारण यह है कि धर्म संप्रदाय से आवृत है। धर्म की ज्योति संप्रदाय की राख से इतनी ढक गई है कि उसके अस्तित्व का भी बोध होना दुर्लभ हो गया है। इसलिए उसको शिक्षा मे कैसे लाया जाए? हमने स्वय अनुभव किया है कि जब 'कोठारी आयोग' के सचिव हमसे मिले तब बताया कि हमारी मीटिंगे होती हैं, पर जब धर्म का प्रश्न आता है तब बात वही अटक जाती है कि अमुक व्यक्ति का नाम नही आना चाहिए, अमुक अवतार का नाम नही आना चाहिए। साम्प्रदायिकता के कारण अध्यात्म के मूल तत्त्व नीचे दब जाते है। सप्रदाय को इतना महत्त्व मिल गया कि अध्यात्म की शुद्ध धारा विलुप्त हो गई। उसे पकड पाना भी कठिन हो गया। यह बहुत बडी समस्या है। इसका समाधान करना हो तो सवेगो को संतुलित, व्यवस्थित और परिष्कृत करना होगा। इसके लिए हमे निश्चित रूप मे अध्यात्म, धर्म और योग की शरण मे जाना होगा। भारत के ऋषि-मुनियो, आचार्यों और साधको ने बहुत लबे अतीत मे ऐसे तत्त्वो को खोजा था, जिनके द्वारा सवेगों

को परिष्कृत किया जा सके। यह बात केवल ग्रन्थो के आधार पर नही, किंतु आज हम अनुभव के आधार पर भी कह सकते है। हमने प्रयोग किये, अनुभव आया कि ऐसा परिवर्तन निश्चित रूप से आ सकता है। सवेग वदलते है, उनका परिष्कार होता है, सवेदनशीलता विकसित होती है। अध्यात्म के क्षेत्र मे ऐसी घटनाओ का प्रचुर उल्लेख है। सभी धर्म-सम्प्रदायो मे ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिनकी सवेदनशीलता अपूर्व थी।

एक व्यक्ति ने रोटियां बनाकर रखी। इतने मे ही एक कुत्ता आया और रोटिया ले भागा। पीछे-पीछे वह व्यक्ति, एक कटोरी मे घी लेकर, कुत्ते के पीछे भागा। वह बोलता जा रहा था—'अरे भाई कुत्ते! रोटिया लूखी है। मै इन्हे घी से चुपड़ देता हू, फिर खा लेना। लूखी रोटिया मत खाना।' लोगो ने सुना। वह कुत्ते के पीछे भागता ही जा रहा था।

यह पागलपन जैसी बात लगती है। किंतु जिसमे संवेदनशीलता का विकास होता है, उसके लिए यह पागलपन नही, सहज है। उससे मन मे किसी प्रकार का छलावा नही होता। जब इतनी सवेदनशीलता जाग जाती है, तब समाज को सुधरने मे समय नही लगता। नैतिकता, प्रामाणिकता और चरित्र-विकास सहज होने लगता है।

जब तक भारत मे सवेदनशीलता की प्रखरता थी, तब तक उसका चित्र वहुत सुन्दर था। बाहर से आने वाले यात्रियो ने भारत का चित्र प्रस्तुत करते हुए लिखा था—भारत मे घरो के ताले नही लगते। दरवाजे खुले रहते है। किसी को यदि चरित्र का शिक्षण लेना हो तो वह भारत आए और यहा से वह शिक्षा प्राप्त करे। ऐसा चित्र सवेदनशीलता के विकास से ही सम्भव है। जैसे-तैसे सवेदनशीलता कम हुई, वैसे-वैसे सवेग प्रबल हुए और सारी अनैतिकता बढी।

शिक्षा जगत् का वहुत वडा काम है—सवेदनशीलता को विकसित करना।

आज के विद्यालयो की विशाल योजनाएं है। उनमे भाषा, साहित्य, कला, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, खगोल—ये सारे विषय सिखाए जाते है, पर इनके साथ भावो के परिष्कार की बात नही है। इसे आवश्यक भी नही माना गया है। आज आवश्यक माना जाता है भाषा, साहित्य, कला आदि का अध्ययन जिससे अच्छी जीविका कमाई जा सके, बौद्धिक स्तर ऊंचा उठ सके, दूसरे राष्ट्रो के साथ अच्छा सम्पर्क स्थापित किया जा सके। व्यवसाय और सम्पर्क का विकास किया जा सकता है किन्तु मूल मे जो चरित्र की कमी है, वह अन्य सब चीजो को खोखला बना डालती है। जब चरित्र नही होता तब नीव कमजोर हो जाती है।

पता नही, शिक्षाशास्त्रियो और शिक्षानीति का निर्धारण करने वालो

का क्या दृष्टिकोण बना कि उन्होने विद्यालयों के लिए अनेक योजनाए बनाईं, अनेक प्रारूप तैयार किए, पर किसी मे भी चरित्र-विकास की योजना सन्निहित नही की, सवेग-नियन्त्रण की योजना सम्मिलित नही की। इसका मतलब यह हुआ कि हमारी नीव कमजोर रह गई और उस कमजोर नीव पर बढिया मकान बन गया। पर वह मकान कभी भी धराशायी हो सकता है।

समाज मे स्वामित्व भी अपेक्षित तत्त्व है। भूमि का स्वामित्व होता है, सपदा का स्वामित्व होता है, अन्यान्य पदार्थों का भी स्वामित्व होता है। स्वामित्व होना आवश्यक तत्त्व है। किंतु जब उस स्वामित्व की सीमा नही होती तो वह समाज के लिए खतरनाक बन जाता है। स्वामित्व की सीमा होनी चाहिए, परिष्कार होना चाहिए। शिक्षा के द्वारा स्वामित्व का समाजीकरण होना चाहिए। आज की जितनी आर्थिक समस्याएं है, वे स्वामित्व की समस्याए है। भारत का यह प्राचीन सूत्र है—सम्पत्ति सामाजिक होती है, वैयक्तिक नही। मार्क्स ने कोई नई बात नही कही। उनका भी सूत्र है—सम्पदा सामाजिक होती है। भारत के आचार्यों ने जो एक बात कही, वह मार्क्स भी नही कह पाया। भागवत का एक श्लोक है.

यावद् भ्रियेत जठरं, तावत् सत्त्वं हि देहिनाम्।
योऽधिकं चाभिमन्येत, स स्तेनो वधमर्हति॥

जितने से पेट भरा जा सके, उस पर स्वामित्व करना ही विहित है। जो इससे अधिक संग्रह करता है, वह चोर है, वध्य है।

आज का सारा झगडा स्वामित्व की परिधि मे चल रहा है। शिक्षा का एक काम है कि उसके द्वारा स्वामित्व की सीमा की चेतना जागृत हो। आज के आदमी का सस्कार तो यह है कि मै खाऊं, बेटा पोता भी खाए, इतना ही नही सात पीढिया भी उसका उपभोग करे। संस्कार तो सात पीढियो का है और सरकार चाहती है कि स्वामित्व की उचित सीमा हो। इस स्थिति में आदमी सस्कार की बात मानेगा या सरकार की बात मानेगा? जब तक सस्कार नही बदलता, तब तक दो नबर के खातो को और काले धन को नही रोका जा सकता।

एक राजनेता ने कहा—काला धन मिटना चाहिए। मैं कहता हू, धन नही, मन होता है काला, और मनुष्य का काला मन मिटना चाहिए। काले मन को मिटाए बिना काले धन को मिटाने की बात नही सोची जा सकती। जब तक मन काला है तब तक धन काला आता रहेगा, जाता रहेगा। उसे कोई कानून नही मिटा सकता। कानून के सामने आते ही प्रत्यक्षत. चलने वाली बुराई भूमिगत होकर चलने लगती है। बुराई सामने न हो—यह है कानून का परामर्श। कानून को आपत्ति होती है जब बुराई प्रगट मे होती है, प्रकट मे आती है। भूमिगत आप कुछ भी करें, कानून को कोई आपत्ति नही

होती। किसी ने बुराई की, अपराध किया, गवाह नही मिला, तो वह अपराध से छूट जाएगा। कानून वहा पगु बन जाता है। बुराई तभी मिट सकती है जब मन का कालापन मिटता है। मन के कालेपन को मिटाना शिक्षा का काम है।

भगवान् महावीर ने श्रावक के लिए आचार-सहिता दी। उसका एक व्रत है—भोगोपभोग व्रत। इसका अर्थ है, भोग की सीमा करना। संपत्ति कितनी ही हो सकती है, पर वैयक्तिक भोग की सीमा वाछनीय है।

विश्व के धनाढ्य व्यक्ति रोकफेलर की बेटी लदन गई। वह बाजार मे कुछ खरीदना चाहती थी। अनेक फोटोग्राफर साथ मे हो गए। वह एक जूते के दूकान पर गई। चप्पल देखे। उनका मूल्य अधिक था। उसने कहा—मैं खरीद नही सकती, मूल्य अधिक है। पत्रकार साथ मे था। उसने पूछा—'आप तो अरबपति की लाडली है, फिर पैसे की बात क्यो करती है? रोकफेलर का संस्थान लाखो-करोडों का दान करता है। इस स्थिति मे आपकी बात समझ मे नही आती।' वह बोली—मै एक अरबपति की लडकी हू। व्यापार मे करोड़ो रुपये लग सकते है, पर हमारा व्यक्तिगत बजट बहुत कम है। हम अपने व्यक्तिगत उपभोग के लिए अधिक खर्च नही कर सकते।'

इस घटना के सदर्भ मे मुझे भगवान् महावीर के द्वारा निर्धारित श्रावक-सहिता के एक व्रत की स्मृति होती है। व्रत है—भोग-उपभोग की सीमा। भगवान् महावीर का अनन्य श्रावक था आनन्द, करोडो-करोडो का स्वामी। अपार सपदा, विस्तृत व्यवसाय, कौटुम्बिक—कुटुम्ब का अधिपति। पर उसका व्यक्तिगत जीवन अत्यन्त सीधा और सादगीपूर्ण था। स्वयं के रहन-सहन और खान-पान पर बहुत सीमित व्यय होता था।

सपदा के सीमाकरण की चेतना को जगाना शिक्षा का महत्त्वपूर्ण कार्य है।

स्वतत्रता की चेतना भी शिक्षा के द्वारा जगाई जाती है। राष्ट्रीय स्वतत्रता का यह अर्थ नही कि उस स्वतत्रता के आधार पर व्यक्ति जो कुछ चाहे सो कर सके। समाज मे जीने वाला व्यक्ति पूर्णतः स्वतन्त्र नही हो सकता। परतंत्रता भी उसके साथ जुडी रहती है। जहा एक से दो होते है, वहा परतंत्रता आ जाती है। समाज मे सापेक्ष स्वतत्रता हो सकती है। यह परतत्रतायुक्त स्वतंत्रता है। मोक्ष ही पूर्ण स्वतत्रता का स्थान है। यहां का जीवन कितने अनुबन्धो और प्रतिबन्धो से जुडा हुआ है? यहा पूर्ण स्वतत्रता की बात प्राप्त नही होती। जो व्यक्ति अहकार के वशीभूत होकर यहा पूर्ण स्वतंत्रता का अर्थ खोजने लग जाता है, वह कठिनाई पैदा करता है।

एक साहित्यकार था। अहकारवश वह अपनी पत्नी से कहने लगा—देखो, मेरे लेखो के कारण कितनी पत्र-पत्रिकाए बिकती है। मेरे साहित्य के

कारण कितनी पुस्तके बिकती है। मेरे ही कारण साहित्यिक गतिविधिया चल रही है। पत्नी ने सुना। उसने सोचा, अहकार से बोल रहे है। वह धीमे से बोली— आप ठीक कह रहे हैं। आप ही के कारण हमारा यह घर भी बिक गया। अब न जाने और क्या-क्या बिक जायेगा ?'

लेखन के कारण पुस्तके और पत्र-पत्रिकाएं बिक सकती हैं तो घर से उदासीन रहने के कारण घर भी बिक सकता है और सब कुछ बिक सकता है। सारा जुडा हुआ है। हमे स्वतत्रता भी सीमा को समझना आवश्यक है।

समाजीकरण का मूल आधार है—सवेगो का परिष्कार। यद्यपि सवेग वैयक्तिक होते है, फिर भी वे समाज को प्रभावित करते है। एक लड़के का गुस्सा पूरे परिवार को विघटित कर देता है। पिता का अह और क्रोध पूरे राष्ट्र को विनाश के कगार पर ला खड़ा करता है। महामात्य चाणक्य ने लिखा है—जो नेता अपने सवेगो पर नियन्त्रण नही रख सकता, वह पूरे राष्ट्र को ले डूबता है। इसलिए यह आवश्यक है कि सवेगो का परिष्कार किया जाए। शिक्षा को इसका माध्यम बनाना चाहिए।

शिक्षा और भावात्मक परिवर्तन

'कला कला के लिए'—इस पर कला के क्षेत्र में पर्याप्त चर्चाए हुई है। शिक्षा के क्षेत्र मे भी इस विषय पर चर्चा हुई है और होनी भी चाहिए। 'ज्ञान ज्ञान के लिए' है तो फिर पढ़ाई की परिसम्पन्नता विद्यालय मे ही हो जाएगी। वहां से निकलने के बाद उसकी कोई उपयोगिता नही रहेगी। 'ज्ञान ज्ञान के लिए' ही नही, किन्तु परिवर्तन और विकास के लिए होना चाहिए। पहले जानना है। जानने के बाद फिर बदलना है, नया निर्माण करना है। यदि विकास और नव-निर्माण की प्रक्रिया ज्ञान के साथ जुडी हुई न हो तो ज्ञान बहुत सीमित रह जाएगा। नया निर्माण और विकास करने के लिए ज्ञान का क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाता है।

जानो और करो। दोनो को कभी विभक्त नही किया जा सकता। ज्ञान और प्रयोग को अलग से नही देखा जा सकता। हमारी प्रक्रिया मे ज्ञानात्मक प्रयोग और प्रयोगात्मक प्रयोग दोनो जुडे हुए है। दोनो को अलग देखने से हमारा दृष्टिकोण एकागी बन जाएगा। हमे जगत् को जानना है और बदलना है, व्यक्ति को जानना है और बदलना है, समाज को जानना है और बदलना है। व्यक्ति बदले, समाज बदले—यह हमारा बहुउद्देशीय घोष है। ये दोनो ही बदलने चाहिए। बदलने की प्रक्रिया पर हम विचार करे।

१. दैहिक विकास

जब शिशु तीन-चार वर्ष का होता है तब से शिक्षा का संबंध जुड जाता है। उसके विकास का भी क्रम है। वह पहले चलना सीखता है, बोलना सीखता है। उसमे शारीरिक प्रवृत्तियो का विकास होता है। वह खाना भी सीख लेता है। इसमे शिक्षा की आवश्यकता नही रहती। 'शिक्षा' शब्द भिन्न है। 'सीखना' शब्द भिन्न है। बच्चा मा से, भाई से, बहिन से सीखता है। यह शिक्षा का कार्य नही है। वह देखता है, अनुकरण करता है और सीखता जाता है। शिक्षा का विशेष अर्थ हो गया कि जहां सगठित एव समन्वित रूप से सीखा जाता है, वह है शिक्षा। पर बच्चा पहले चरण मे अनुकरण से सीखता है और शारीरिक प्रवृत्तियो का विकास करता है। दूसरे चरण में वह इन्द्रियों का विकास करता है। वह इन्द्रियों का उपयोग करना जान लेता है।

२. इन्द्रिय विकास

इन्द्रियो के विकास में दो स्थितिया बनती हैं—प्रियता का भाव और

अप्रियता का भाव। वह प्रिय-अप्रिय का बोध करने लगता है। वह चीनी खाना पसन्द करता है, नीम का पत्ता खाना नही चाहता। चीनी मीठी होती है, नीम कड़ुवा होता है। उसमे प्रिय-अप्रिय का संबोध स्पष्ट हो जाता है। इन्द्रिय विकास के साथ सवेदन और सवेग का प्रिय और अप्रिय के साथ सवंध हो जाता है।

३. मानसिक विकास

वच्चा और आगे बढता है। उसमे अच्छा-बुरा का बोध स्पष्ट होता जाता है। वह जानने लगता है, चीनी प्रिय होती है, पर अच्छी नही होती। उससे दांत खराव होते है, आते खराव होती है, हड्डियां कमजोर हो जाती है। नीम का पत्ता कड़ुवा होता है, पर स्वास्थ्यप्रद होता है। वच्चे का मानसिक विकास होता है और ये सारी वाते जानने लग जाता है।

इन तीनो—दैहिक विकास, इन्द्रिय विकास और मानसिक विकास—मे अनुकरण, वातावरण और परिवेश से सीख लिया जाता है तथा कुछ सुनी-सुनाई वातो से सीख लिया जाता है।

४. बौद्धिक विकास

वच्चा स्कूल मे जाता है तव वहा उसे पाठ्यक्रम दिया जाता है। उसे लिपि, भाषा, साहित्य आदि का ज्ञान कराया जाता है। उससे उसका वौद्धिक विकास होता है और उसमे विश्लेषण की शक्ति आती है। मानसिक विकास से अच्छे-बुरे का ज्ञान तथा संवेदन आदि की जानकारी होती है। वौद्धिक विकास से विश्लेषण, नीति-निर्धारण आदि की शक्तिया जागती है। बुद्धि का काम है—व्यवहार का निश्चय करना, विवेक करना। वौद्धिक विकास के साथ वच्चे की क्षमता वहुत वढ जाती है।

विद्यालय का जीवन वौद्धिक विकास का जीवन है। पहले तीन विकासो मे विद्यालय का कोई संवन्ध नही रहता। वर्तमान मे शिक्षा वौद्धिक विकास के साथ जुडी हुई है। हमने अपने आपको वदलने और समाज को वदलने की जो चर्चा प्रस्तुत की है उससे ज्ञात होता है कि वौद्धिक विकास मे रूपान्तरण की क्षमता कम है। उसमे निर्णय और निश्चय की क्षमता है, विवेक करने की क्षमता है, पर परिवर्तन की क्षमता नही है। वुद्धि के द्वारा वदलने की क्षमता कहा से आएगी ?

एक वच्चा वगीचे मे गया। वहा एक पट्ट पर लिखा हुआ था—'फूल तोडना मना है।' उसकी वुद्धि प्रखर थी। उसने फूल नही तोडा, पौधे को ही उखाड़ डाला। माली आकर वोला—'अरे! यह क्या किया? पट्ट पर क्या लिखा है?' वच्चे ने कहा—'जो लिखा हुआ है उसी के अनुसार काम किया है। लिखा है—फूल तोडना मना है। मैंने फूल नहीं तोडे, पौधे को उखाडने

की मनाही नही है। मैंने पौधा उखाडा है, फूल को हाथ नही लगाया।

बुद्धि का काम है बात को तर्क मे उलझाना, न कि सुलझाना। यह उसकी स्वाभाविक प्रक्रिया है। जो जितनी सीमा मे काम कर सकता है वह उतनी ही सीमा मे काम करेगा। बुद्धि की अपनी सीमा है। परिवर्तन उसकी सीमा के अन्तर्गत नही है।

जीवन-विज्ञान की पद्धति मे इस प्रश्न पर गम्भीरता से चिंतन किया गया है कि आदमी बदलता क्यो नही ? विद्यार्थी मे नैतिकता, प्रामाणिकता और चरित्र का विकास क्यो नही होता ? ऐसा लगता है कि बदलाहट लाने वाला जो तत्त्व है वह अभी शिक्षा प्रणाली मे समाविष्ट नही है।

आर्थिक व्यवस्था को बदलना सामाजिक प्रक्रिया के साथ जुडा हुआ है। आज की अर्थ-व्यवस्था वह बदलेगा जिसके हाथ मे अर्थनीति का नियंत्रण हो। आदमी को नियत्रण का पालन करना है। कैसे करेगा ? बुद्धि के द्वारा बात आई और मस्तिष्क मे पैठ गई, किंतु वह बदलने के तत्त्व के पास पहुची ही नही। इसलिए अर्थ-व्यवस्था बदली नही। इसका मूल कारण है—लोभ। लोभ एक सवेग है, इमोशन है। वह बदलने मे बाधा उपस्थित करता है। आदमी मे इतना लोभ है कि वह अपने स्वार्थ को सिद्ध करना चाहता है और नियंत्रण, नियमन और कानून को नीचे रख देना चाहता है। यहा बदलने की बात आती है बुद्धि के स्तर पर। बुद्धि को बदलना नही है। बदलना है सवेग को, लोभ को, भाव को। पर आदमी उसकी बात को स्वीकार ही नही कर रहा है। दोनो का सघर्ष है और इसी के आधार पर कथनी और करनी की दूरी बराबर बनी की बनी रहती है।

कथनी और करनी मे दूरी क्यो है, इस पर हम चिंतन करें। यदि बौद्धिक विकास के साथ इस समस्या का समाधान होता तो आज के बौद्धिक वर्ग वैज्ञानिक, इंजीनियर, वकील आदि की कथनी और करनी समान होती, किंतु देखा जाता है कि उनमे भी कथनी-करनी की अपार दूरी है। उनका बुद्धि का स्तर बहुत विकसित हो गया, पर भावना के स्तर पर उन्हें बालक ही कहा जाएगा। जो बहुत बड़ा शब्दशास्त्री बन गया, पर यदि उसने लिंगानुशासन नही पढा है तो वह बच्चा ही है। इसी प्रकार आदमी ने कितना ही बौद्धिक विकास कर लिया, किंतु वह सवेद और सवेग के लिंगानुशासन से अजान है तो वह बालक ही है। सवेद और सवेग के नियंत्रण को जाने बिना उसका ज्ञान व्यर्थ है। जब तक यह नियंत्रण की क्षमता उसमे विकसित नहीं होती तब तक कथनी और करनी की दूरी, ज्ञान और आचरण की दूरी को भगवान् भी नही मिटा सकते। शिक्षा का काम है इनमे समन्वय और सामजस्य स्थापित करना। ज्ञान और आचरण के समन्वय का अर्थ है बौद्धिक एवं भावात्मक विकास में समन्वय। यह होने पर कथनी और करनी की समस्या

का समाधान हो सकता है।

साम्यवादी प्रणाली मे व्यक्तिगत नियत्रण पर बहुत ध्यान दिया गया। पर आदमी बदला नही। जब तक हमारा ध्यान सवेगो के नियन्त्रण और अनुशासन पर केन्द्रित नही होगा, तब तक समाज मे परिवर्तन लाने की बात नही आएगी। साम्यवादी शिक्षाप्रणाली मे यह माना गया कि ज्ञान केवल जानने के लिए, विश्व का पुनर्निर्माण करने के लिए और समाज को बदलने के लिए है। किंतु शिक्षा के द्वारा यह नहीं हो रहा है। इसका तात्पर्य है कि शिक्षा मे कही न कही त्रुटि है। और वह त्रुटि यह है कि शिक्षा मे भावात्मक विकास की बात छूट गई है।

आज हमे इस बात पर ध्यान केन्द्रित करना है कि शारीरिक विकास के साथ बौद्धिक विकास और भावात्मक विकास का सतुलन बने। व्यक्ति इन्द्रिय और बुद्धि के स्तर पर नही चलता। वह चलता है, भाव के स्तर पर। आदमी जो कुछ कर रहा है, उसका संचालन भीतर हो रहा है। अर्जुन ने कृष्ण मे पूछा—'भगवन्! आदमी पाप करता है। उसका प्रेरक, प्रवर्तक कौन है?' कृष्ण ने कहा—आदमी को पाप मे प्रेरित करता है काम और क्रोध। ये निपेधात्मक भाव है।

हम बुद्धि के स्तर पर समस्या को सुलझाना चाहते है। इसमे कोई सगति नही है। दर्शन पर यह आरोप लगाया कि वह जानने की प्रक्रिया है, बदलने की प्रक्रिया नही है। यह सचाई नही है। जैन साहित्य मे शिक्षा का जो प्रारूप मिलता है, उसमे दो शब्द व्यवहृत हुए है—ग्रहण शिक्षा और आसेवन शिक्षा। शिक्षा ग्रहण करो और उसका प्रयोग करो। शिक्षा के साथ अभ्यास जुडा हुआ है। आज अभ्यास छूट गया, सवेग पर नियन्त्रण की बात छूट गई और अतिरिक्त भार बौद्धिक विकास पर आ गया।

५. भावात्मक विकास

आज अपेक्षा है कि शिक्षा के साथ भावात्मक विकास का क्रम जुडे। इसके बिना हम जिस समाज की परिकल्पना करते हैं, वह कभी संभव नही है। बौद्धिक और आर्थिक विकास के साथ-साथ अपराध, हिंसा, आक्रामकवृत्ति, आवेग, पारिवारिक कलह आदि बढ रहे है। ऐसा क्यो हो रहा है? शिक्षा के द्वारा इन सब वृत्तियो मे कमी आनी चाहिए। पर आज ऐसा नही हो रहा है। आज के विकसित राष्ट्रो मे अपराधो की बाढ-सी आ रही है। पागलपन बढ रहे है। जहा शत-प्रतिशत लोग शिक्षित है, वहा भी ऐसा हो रहा है। आश्चर्य इस बात का है कि भारत की शिक्षा-प्रणाली भी बुद्धि तक सीमित है। यह बात हमने पहले ही समझ ली थी, लेकिन हम उसको नकारते चले जा रहे है, समस्या को स्वय पैदा कर रहे है। जब तक भाव-जगत् में शिक्षा का प्रवेश नही होगा तब तक शिक्षा के द्वारा समाज को बदलने की

संभावना नही की जा सकती।

पिता पुत्र को दूध का गिलास पीने के लिए देता। गिलास तो वही, पर धीरे-धीरे दूध कम होता गया। पुत्र ने दूध घटने की बात पूछी। पिता ने कहा—अकाल है। चरने के लिए घास नही मिलती है। लडके ने कहा—मै उपाय करता हू। उसने गाय की आखो पर हरे रग का चश्मा लगा दिया। अब गाय को सूखा खास भी हरा दीखने लगा। वह चरने लगी। दूध बढ गया।

गाय मे भावात्मक परिवर्तन हुआ। वह घास भी अधिक खाने लगी और दूध भी अधिक देने लगी।

हम बाह्य को जानना ज्यादा पसद करते है। हमे तो कठपुतली ही दिखाई देती है जो बोलती है, नाचती है, गाती है, खेलती है। उसको जो पर्दे के पीछे से सचालित कर रहा है, उस ओर ध्यान ही नही जाता। हमारे जीवन का सचालन भाव करते है, जो पर्दे के पीछे है। उनकी ओर हमारा ध्यान नही है। जब तक शिक्षा के साथ भाव-जगत् का सम्बन्ध नही जुडेगा तब तक न उपद्रव मिटेगे, न हडताले समाप्त होगी और न अनुशासन आएगा। हम बुद्धि के शस्त्र को तेज करते जा रहे है। उसका काम है काटना। नगी तलवार बहुत खतरनाक होती है। उसके लिए म्यान चाहिए। म्यान मे पडी तलवार खतरनाक नही होती। बुद्धि को हमने नगी तलवार तो बना डाला। अब उस पर म्यान का खोल डालना आवश्यक है, जिससे कि सीधा खतरा न हो। यह है भाव-जगत् की प्रक्रिया।

जीवन-विज्ञान की चर्चा चल रही है। इसका अर्थ पूरी शिक्षा-प्रणाली को बदलना नही है, बौद्धिक विकास को अवरुद्ध करना नही है। बौद्धिक विकास जरूरी है। उसके बिना आदमी पशुता की ओर चला जाएगा। जीवन-विज्ञान का अर्थ इतना ही है कि बौद्धिक विकास के साथ भावात्मक विकास का सन्तुलन हो। यह होने पर शिक्षा-प्रणाली का कार्य पूरा होता है।

भावात्मक विकास का एक पहलू है—नैतिक विकास। इसके दो रूप हैं—सामाजिक नैतिकता और वैयक्तिक नैतिकता। एक समाज या सस्था कुछ नियम, उप-नियम बनाती है। वह ध्यान नही रखती कि व्यक्ति की वासना, वृत्तिया, सवेग कैसे है ? विचार किए बिना वह नियम बना देती है। यह सामाजिक नैतिकता और अनुशासन है। साम्यवादी देश का एक नैतिक सूत्र बन गया है कि व्यक्तिगत स्वामित्व न हो। उसमे व्यक्तिगत वृत्तियो, वासनाओ और सवेगो का ध्यान नही रखा गया। आखिर व्यक्ति व्यक्ति होता है। उसमें वासना है, लोभ की वृत्ति है। उनकी उपेक्षा कर व्यक्तिगत स्वामित्व का नियंत्रण कर दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि वह आर्थिक दौड़ मे पिछड़ गया। इसमे व्यक्तिगत स्वार्थ अधिक हो जाता है, पुरुषार्थ कम हो जाता है।

फलतः आर्थिक पिछड़ापन आ जाता है ।

वैयक्तिक नैतिकता का अर्थ है—व्यक्तिगत संवेगो और वृत्तियो पर नियन्त्रण करना ।

शिक्षा के साथ दोनो प्रकार की नैतिकताओ का सम्बन्ध होता है। विद्यार्थी समाज मे जीता है । उसे सामाजिक प्राणी बनना है । उसको समाज के नियमो को मानना है, राष्ट्र के नियमो का भी पालन करना है, क्योकि वह राष्ट्र में रहता है । यदि शिक्षा के द्वारा उसकी यह मानसिकता नही बनती है तो वह अच्छा विद्यार्थी नही बन सकता । इससे भी अधिक जरूरी है संवेगो पर नियन्त्रण करना । यह नैतिकता का महत्त्वपूर्ण बिन्दु है । यह शिक्षा के साथ जुड़े ।

शिक्षा के साथ मानसिक शक्ति के विकास की बात भी जुडी होनी चाहिए । इस शक्ति का विकास जिस राष्ट्र, समाज या व्यक्ति मे नही होता, वह कमजोर हो जाता है । आज के व्यक्ति मे मनोबल का विकास और भावात्मक विकास—दोनो न्यून है । शिक्षाशास्त्री इनके विकास के लिए नई-नई पद्धतियां प्रस्तुत कर रहे है । आज अपेक्षा है कि सामाजिक परिवेश बदले और वर्ग-संघर्ष, वैमनस्य आदि समस्याए समाहित हो । इसके लिए भावात्मक विकास अपेक्षित है ।

शिक्षा और नैतिकता

समाज के साथ नैतिकता का प्रश्न अनिवार्यतः जुडा हुआ है। यदि समाज मे परस्परता और नैतिकता न हो तो समाज भयंकर समाज बन जाता है। जिस समाज मे एक दूसरे के प्रति अच्छा व्यवहार होता है, वह कल्याणकारी समाज बन जाता है। सबका एक स्वप्न है कि कल्याणकारी समाज का निर्माण हो। पर नैतिकता के विना यह संभव नही है। नैतिकता का प्रश्न अपने आप मे वहुत जटिल है। इसकी अनेक दार्शनिक चर्चाएं हुई है, आचार-सहिताएं वनी है और अनेक परिभापाएं हुई है।

काट ने नैतिकता के तीन आधार माने है—

१. निरपेक्ष मूल्यो मे आस्था

२. मरणोपरान्त जीवन मे आस्था

३. ईश्वरीय आस्था

नैतिकता का सापेक्ष मूल्य नही है। उसका निरपेक्ष मूल्य है। काट ने इसका विस्तार से प्रतिपादन किया है।

मरणोपरान्त जीवन मे आस्था होती है तो नैतिकता को वल मिलता है। जव आदमी जान लेता है कि मरने के वाद भी जीवन रहता है, किए हुए कर्मो का फल भुगतना होता है, तो जीवन मे नैतिकता अकुरित होती है।

ईश्वरीय आस्था भी वहुत मूल्यवान् है। जिसकी ऐसी सत्ता में आस्था हो जो परमसत्ता एवं विशुद्ध हो, वहा से नैतिकता फलित होती है।

नैतिकता का दूसरा क्रम राष्ट्र के साथ जुडा हुआ है। जव व्यक्ति मे राष्ट्र के प्रति गहरा आकर्षण पैदा हो जाता है तव वह राष्ट्र के प्रतिकूल कोई आचरण करना नही चाहता। उस स्थिति मे नैतिकता विकसित होती है।

शिक्षा के क्षेत्र मे भी नैतिकना की काफी चर्चा होती है। प्रत्येक व्यक्ति मे निरपेक्ष मूल्यों की आस्था पैदा की जा सके, ईश्वर मे आस्था पैदा की जा सके, यह अपेक्षित है। पर विभिन्न प्रकार के लोग होते है। प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म का मोह नही छोडता। धार्मिक आस्थाए अलग-अलग होती है। वहा ऐसी कल्पना नही की जा सकती कि ईश्वरीय सत्ता मे आस्था पैदा हो। इसलिए शिक्षा के साथ नैतिकता का विचार-विमर्श करते समय हमे एक दूसरा आधार खोजना होगा। वह आधार खोजा है—शारीरिक अनुशासन। जीवन-विज्ञान के क्षेत्र मे दूसरे सारे संदर्भो और परिभापाओ से हट कर नैतिकता को शरीर के साथ जोड़ा है। वह नैतिकता का वहुत वड़ा हेतु वन सकता

है। यह स्पष्ट है कि नैतिकता का एक ही स्रोत या एक ही कारण नही माना जा सकता। अलग-अलग कारण हो सकते है, किन्तु शारीरिक अनुशासन बहुत बड़ा कारण है। हम नैतिकता की एक उपायात्मक पद्धति को काम मे नही ले सकते। घटना का घटित होना और उपाय खोजा जाना—ये दो बाते है। उपाय पर विचार नही किया जा सकता।

बहुत प्राचीन काल मे परिवर्तन की प्रक्रिया पर चिन्तन चला तो दो समाधान सामने आए अध्यात्म के क्षेत्र मे—वैराग्य और अभ्यास, निसर्ग और अभ्यास। ये व्यवहार के क्षेत्र मे भी घटित हो सकते है।

ये दो विकल्प है। आदमी कैसे बदल सकता है ? मन को एकाग्र कैसे किया जा सकता है ? चित्तवृत्तियो को कैसे बदला जा सकता है ? आन्तरिक विकास कैसे हो सकता है ? इसके दो उपाय निर्दिष्ट है—वैराग्य और अभ्यास, निसर्ग और अभ्यास। उमास्वाति के आधार पर दो उपाय है—निसर्ग और अधिगम। निसर्ग और वैराग्य वाली बात आनुपातिक दृष्टि से बहुत कम होती है। बहुत कम व्यक्ति वैराग्य को प्राप्त होते है और बहुत कम व्यक्ति निसर्गत कुछ प्राप्त कर सकते है, उपलब्धिया प्राप्त होती है। हमारे विचार-विमर्श का विषय अभ्यास ही बन सकता है, निसर्ग और वैराग्य हमारे लिए विमर्शयोग्य विषय नही है।

प्रश्न है कि शिक्षा मे नैतिकता का उपाय क्या हो सकता है ? विद्यार्थी को नैतिकता का उपाय देना, अभ्यास देना, शिक्षा का परम कार्य है। यदि शिक्षा के क्षेत्र मे विद्यार्थी को नैतिकता का अधिगम नही दिया जाता, बोध नही कराया जाता, अभ्यास और उपाय नही दिया जाता तो मानना होगा कि नैतिकता और शिक्षा का कोई सबंध ही नही है। पर आज उसकी अनिवार्यता महसूस हो रही है कि नैतिकता शिक्षा के साथ अवश्य जुडे, उसका उपाय और अभ्यास जुडे। इस प्रक्रिया मे सबसे पहला तत्त्व है—शरीर-बोध और शारीरिक अभ्यास। शारीरिक अनुशासन के बिना मानसिक और भावनात्मक अनुशासन संभव नही है और उसके बिना नैतिकता सभव नही है। शरीर और मन दोनो जुडे हुए है। शरीर को छोडकर मन की व्याख्या नही कि जा सकती और मन को छोडकर शरीर की व्याख्या नही की जा सकती। दोनो मे इतना गहरा सबध है कि एक दूसरे के बिना एक दूसरे की गति ही नही है।

शरीर को समझने के लिए दो तत्रो पर विशेष ध्यान देना जरूरी है। एक है नाडी तत्र और दूसरा है ग्रथितत्र।

हमारे स्वभाव और भाव बदलते रहते है। एक आदमी अभी प्रसन्न है, थोडी देर बाद उदास हो जाएगा, थोडी देर बाद क्रुद्ध हो जाएगा। परिवर्तन होता रहता है। ऐसा क्यों होता है, इस पर शरीरशास्त्रियो ने भी विचार किया है। ग्रीक शरीरशास्त्री हिपोक्रेटस ने मनुष्यो को चार श्रेणियो

मे बाटा है—१. वातवृत्ति २ पित्तवृत्ति ३ कफवृत्ति ४. रक्तवृत्ति। वातवृत्ति वाला व्यक्ति उदास और खिन्न रहता है। पित्तवृत्ति वाला गुस्सेल होता है। वह बात-बात मे उत्तेजित और कुपित हो जाता है। कफवृत्ति वाला ठडा होता है, पर लालची अधिक होता है। रक्तवृत्ति वाला सदा प्रसन्न रहता है। हमारे शरीर मे चार द्रव्य है—वात, पित्त, कफ और रक्त। इनके आधार पर मनुष्य चार श्रेणियो मे वट गया। आदमी की प्रवृत्ति और स्वभाव के पीछे ये तत्त्व काम करते है। आदमी पहले चिड़चिडा नही था, पर बाद में चिडचिडा हो जाता है। शरीरशास्त्री कहेगा कि कही इसका लीवर तो खराब नही है। होम्योपैथिक डाक्टर भी स्वभाव के आधार पर निर्णय लेगा कि यह चिडचिडा है तो इसका लीवर खराब होना चाहिए। बीमारियो के कारण आदमी का भाव बदल जाता है, स्वभाव बदल जाता है। ग्रथियो का सतुलन बिगडने पर भी स्वभाव बदल जाता है। जब थाइरायड ग्रथि ठीक काम नही करती है तब उत्तेजना आने लग जाती है, निराशा छा जाती है। गोनाड्स के अति-सक्रिय होने से आदमी स्वार्थी बन जाता है। जब स्वार्थ, उत्तेजना, क्रोध आदि है तो फिर नैतिकता की बात कैसे होगी? नैतिकता मे बहुत बडी बाधा है स्वार्थ। यदि स्वार्थ की बात कम हो जाती है तो अनैतिकता स्वत कम हो जाती है, समाप्त हो जाती है।

बहुत प्रयत्न करने पर भी अनैतिकता का प्रश्न समाहित नही हो रहा है। इसका कारण यह है कि हमने परिवेश तक ध्यान तो दिया, फिर भी वातावरण अनुकूल नही है। हमारा ध्यान वातावरण और परिवेश तक केंद्रित है। हम सारी समीक्षा वातावरण, परिस्थिति और परिवेश के आधार पर करते है। मनोविज्ञान मे हेरिडिटी—आनुवशिकता के आधार पर विचार किया गया। आनुवशिकता के कारण भी यह होता है। किन्तु उससे आगे जो विज्ञान की भाषा मे सोचता है, उसके लिए कोई आवश्यक नही, क्योकि वहा प्रयोग और परीक्षण की सीमा आ जाती है। आगे कुछ बढ़ता नही। प्रश्न अनबुझे रह जाते हैं।

आज नैतिकता का विकास क्यो नही हो रहा है? क्रूरता क्यो नही मिट रही है? इसका दार्शनिक कारण कर्म के आधार पर बताया जाता है।

कर्म के कारण भी इस समस्या के सुलझने मे कठिनाई आती है। यदि हम यह मान बैठते हैं कि कर्म मे जो है वह वैसा ही घटित होता है, बदलता नही, तब तो नैतिकता, अनैतिकता और शिक्षा के साथ नैतिकता का सबध आदि बाते व्यर्थ हो जाती है। किन्तु कर्मवाद का एक ध्रुव सिद्धात है कि कर्म को भी बदला जा सकता है। कर्म ध्रुव नही होते, परिवर्तनशील होते हैं। इनमे परिवर्तन का अवकाश है।

कर्म सूक्ष्म है। वे अभिव्यक्त होते है स्थूल शरीर मे। हमारे शरीर की

रचना बहुत जटिल है। मनुष्य के मस्तिष्क की संरचना इतनी जटिल और सूक्ष्म है कि हजारो वैज्ञानिको ने उसे समझने का प्रयत्न किया है, पर अभी तक जो ज्ञात हुआ है वह थोडा है, अज्ञात अधिक है। कर्म-शरीर सूक्ष्म है। उसका सवादी है स्थूल शरीर। कर्म-शरीर के संस्कार स्थूल शरीर में अभिव्यक्त होते है। योग के क्षेत्र मे अभी इस बात पर विचार किया गया कि स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का सगम-बिन्दु कहा है, जहां भीतर के प्रकपन आकर उसको प्रभावित करते है वह है हमारा भाव। भाव भीतर से आता है और स्थूल शरीर को प्रभावित करता है, भावित करता है। जो संगम-बिंदु खोजे गए उनमे एक नाभि जिसे योग की भाषा मे मणिपूर चक्र और प्रेक्षा-ध्यान की भाषा मे तैजसकेन्द्र कहा जाता है। दूसरा सगम-बिन्दु है विशुद्धि-केन्द्र, जो थाइरायड ग्लैण्ड का केन्द्र है और तीसरा है मस्तिष्क का एक भाग जो हाइपोथेलेमस लिम्बिक सिस्टम कहलाता है। ये तीन सगम-स्थल है, सगम-बिन्दु है जहा सूक्ष्म जगत् स्थूल जगत् मे प्रकट होता है।

शिक्षा के साथ सबध जुडता है स्थूल जगत् का, हमारे स्थूल शरीर का। मैं सोचता हू कि शारीरिक अनुशासन के बिना दूसरा अनुशासन आ नही सकता और अनुशासनहीनता की समस्या का समाधान हो नही सकता। इस लिए शारीरिक अनुशासन बहुत आवश्यक है। जीवन-विज्ञान मे उसके कुछ उपाय खोजे गए है। उनमे एक उपाय है आसन। आसन कोई नई खोज नही है, पुरानी बात है, किन्तु हमने उन आसनो को खोजा है जो हमारे भाव-परिवर्तन मे उपयोगी हो सके। जीवन-विज्ञान मे उन आसनो का समावेश किया गया है। दूसरे शब्दो मे वह शारीरिक अनुशासन स्वीकृत किया है जो मानसिक और भावात्मक अनुशासन मे सहयोगी बनता है।

हमने शशाक आसन को बहुत महत्त्व दिया है। इसके द्वारा एड्रीनल ग्लाड या तैजसकेन्द्र पर अनुशासन किया जा सकता है। सिद्धासन के द्वारा गोनाड्स—कामग्रथि पर अनुशासन किया जा सकता है। वासना कितनी ही प्रबल हो, उच्छृखल हो, सिद्धासन के द्वारा उस पर नियत्रण हो सकता है। यह निश्चित उपाय है काम-वासना पर विजय पाने का। इससे उत्तेजना की प्रबलता मिट जाती है और एक अनुशासित क्रम बन जाता है। मै नही कहता कि उससे व्यक्ति वीतराग बन जाता है। पर यह निश्चित है कि उससे अति-रिक्तता समाप्त हो जाती है।

यह शारीरिक अनुशासन भावात्मक और मानसिक स्थिति का अनु-सरण करता है। प्राचीन आचार्य ने गुजराती-राजस्थानी मे एक ग्रथ लिखा है। उसमे उन्होंने नाभि के पास होने वाली सारी वृत्तियो का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। क्रोध, लोभ, अहकार आदि जहा पैदा होते है, उनका विवरण प्रस्तुत करते हुए वे बताते है कि ये सारी वृत्तिया नाभि के आसपास

पैदा होती है। यदि हम नैतिकता की दृष्टि से सोचे तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि जब तक इन वृत्तियो का अनुशासन नही होता तब तक हजार उपक्रम करने पर भी नैतिकता नही आ सकती। हमे आन्तरिक उपाय खोजने होगे और उन्हे शिक्षा के साथ अनिवार्यतः जोडना होगा।

आज की शिक्षा-प्रणाली मे अनेक शारीरिक आसन कराए जाते है, व्यायाम कराया जाता है, जिससे कि विद्यार्थी का शरीर स्वस्थ रहे। यह भी शारीरिक अनुशासन का एक पक्ष है, पर भावात्मक परिवर्तन की दृष्टि से जो आसन अपेक्षित है उनका समावेश शिक्षा मे होना चाहिए। ये आसन ग्रंथिसतुलन और नाड़ी-संतुलन मे सहयोगी बनते है।

शिक्षा और जीवन-मूल्य (१)

प्राचीन शिक्षा-प्रणाली मे नैतिकता का बहुत मूल्य था और उसकी चर्चा भी उपलब्ध होती है। आज 'नैतिक शिक्षा' इस शब्द के स्थान पर 'मूल्यपरक शिक्षा'—यह शब्द प्रस्थापित हो गया है। इसकी आज बहुत चर्चा है। आज मूल्यो की अपेक्षा है। उसकी पूर्ति का साधन शिक्षा बने। जीवन-विज्ञान की प्रणाली मे सोलह मूल्यो का निर्धारण किया गया है। वे जीवन-विज्ञान की शिक्षा के साथ जुड़े हुए है। हमने उन मूल्यो को अनेक स्तरों मे बांटा है। मूल्य के ये स्तर बनते—

१. सामाजिक मूल्य—कर्त्तव्यनिष्ठा, स्वावलंबन।

२. बौद्धिक-आध्यात्मिक मूल्य—सत्य, समन्वय, संप्रदाय-निरपेक्षता, मानवीय एकता।

३. मानसिक मूल्य—मानसिक सतुलन, धैर्य।

४. नैतिक मूल्य—प्रामाणिकता, करुणा, सह-अस्तित्व।

५. आध्यात्मिक मूल्य—अनासक्ति, सहिष्णुता, मृदुता, अभय, आत्मानुशासन।

पहले वर्ग के मूल्य बौद्धिक है। दूसरे वर्ग के चारो मूल्य शुद्ध रूप मे बौद्धिक नही कहे जा सकते। वे बौद्धिक भी है और आध्यात्मिक भी है। सत्य की खोज करना बुद्धि का काम है। अध्यात्म का भी काम है सत्य की खोज करना। इसी प्रकार शेष तीन मूल्य भी बौद्धिक और आध्यात्मिक दोनो हैं।

इस प्रकार पाचो वर्ग के सोलह मूल्यो का विकास करना जीवन-विज्ञान का ध्येय है। सामाजिक और नैतिकदृष्टि से इनका विकास होना बहुत जरूरी है। मूल्यपरक दृष्टि मे मूल्य का बोध होना बहुत आवश्यक है, अन्यथा सामाजिक स्थिति लडखड़ा जाती है।

जिनको मूल्य-बोध नही होता, वह किसी चीज का मूल्याकन नही कर सकता। एक घटना है—

एक राजा था। वह अत्यन्त लोभी था। उसने एक क्रयाधिकारी की नियुक्ति की। वह ईमानदार था। वह वस्तु का उचित मूल्य देता और उसका क्रय कर लेता। राजा सोचता कि मूल्य कम दिया जाए और वस्तु अधिक ली जाए। उसने उस अधिकारी को बदलना चाहा। एक दिन राजा ने देखा कि एक किसान धूप में श्रम कर रहा है। कड़ी धूप और कड़ा श्रम। राजा

ने सोचा, क्यो नही इसे क्रयाधिकारी नियुक्त कर दिया जाए। राजा ने उसे नियुक्ति दे दी। वह कुछ भी नही जानता था। एक बार एक सौदागर पांच सौ घोडे लेकर आया। राजा को घोडो का शौक था। वह सभी घोडे खरीद लेना चाहता था। उसने सौदागर को क्रयाधिकारी के पास भेज दिया। क्रयाधिकारी ने सौदागर से कहा—'सभी पांच सौ घोडो को घुडसाला मे भेज दो और फिर मेरे से मूल्य ले जाओ।' सभी घोड़े घुड़साला में पहुंच गए। उसने सौदागर से कहा—'पाच सौ घोड़ो का मूल्य है, पांच सेर चावल। ले जाओ। सौदागर अवाक् रह गया।

ऐसा होता है, जिसको मूल्य-बोध नही होता उसके लिए पाच सौ घोड़ो की कीमत पाच सेर चावल से अधिक नही होती।

जो ध्यान का मूल्य नही जानता, वह उसका क्या मूल्य आकेगा ? वह यही कहेगा कि एक घटा आखे मूदकर बैठ जाना ही ध्यान है।

मूल्य-बोध की चेतना को जगाना परम आवश्यक है। एक मूल्य से कभी समाज नही चलता। केवल सामाजिक मूल्यो की पूर्ति से समाज नही चलता। इसी प्रकार केवल शारीरिक, आर्थिक या बौद्धिक मूल्यो की पूर्ति से कभी समाज नही चलता और केवल आध्यात्मिक मूल्यों के आधार पर भी समाज नही चलता। समाज एक सगठित और समन्वित तत्त्व है। उसके लिए भी मूल्यो की पूर्ति जरूरी है। आदमी एकागीदृष्टि से कह देता है कि समाज अर्थ की पूर्ति से सुव्यवस्थित चल सकता है। सारा भार अर्थ पर डाल दिया जाता है। क्या अर्थ की पूर्ति करने वाले व्यक्ति मे कला, सगीत और साहित्य के प्रति रुचि नही होती ? क्या उसमे अन्य आकाक्षा और कामना नही होती ? आदमी यन्त्र नही है। उसको यन्त्र मानकर व्यवहार नही किया जा सकता। हमे उसके व्यवहार, सवेग और मौलिक मनोवृत्तियो के आधार पर उसके साथ व्यवहार करना होगा। वह किसी यन्त्र का पुर्जा नही है, ईंट-पत्थर नही है कि जहा चाहे वहां फिट कर दे। वह चेतनावान् प्राणी है, जिसकी अपनी रुचि है, आकांक्षा और कामना है। ऐसी स्थिति मे एकांगी-दृष्टि से नही सोचा जा सकता। साम्यवादी प्रणाली मे मूल्यो की उपेक्षा की गई। उसका परिणाम यह आया कि व्यक्ति का सर्वागीण विकास नही हो पाया। अनेक समस्याए उभरी। जिन लोगों ने प्रजातांत्रिक प्रणाली मे भी आर्थिक मूल्यो को अतिरिक्त मूल्य दिया, वहां असतोप और पागलपन वढ़ा। जव अर्थ या भोग का मूल्य अतिरिक्त होता है तव पागलपन वढ़ता है और एक प्रकार की ऊव पैदा होती है जिससे आदमी का सन्तुलन विगड जाता है। जहा आध्यात्मिक मूल्यो को अतिरिक्त स्थान दिया जाता है वहा गरीवी वढ़ सकती है, परतंत्रता भी आ सकती है। अध्यात्म मे या भक्ति मे रत रहने वाला सोच सकता है, यही सार है। कमाने की या खेती की जरूरत ही क्या है ?

वह दिन-रात भक्ति मे लीन रहता है। कैसे चलेगा जीवन ? वह परिवार का पोषण कैसे करेगा ? जहां अतिक्रमण होता है वहां समस्याएं उत्पन्न होती हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि आदमी का दृष्टिकोण यथार्थवादी बने। जिसका, जिस स्तर पर, जितना मूल्य हो उसको उतना मूल्य दिया जाए। शरीर के स्तर पर जिसका मूल्य है उसकी तुलना शरीर के स्तर पर ही हो सकती है और अध्यात्म के स्तर पर जिसका मूल्य है, उसकी तुलना अध्यात्म से ही हो सकती है। दोनो मे असमानता है, ऐसा नही कहा जा सकता। शरीर के स्तर का मूल्य है भोजन करना और अध्यात्म के स्तर का मूल्य है भक्ति करना। प्रश्न होता है कि भोजन का मूल्य अधिक है या भक्ति का ? इस विषय मे एकागी दृष्टि से कुछ नही कहा जा सकता। इसमे अधिक या कम की तुलना नही की जा सकती। हमारा निर्णय होता कि शारीरिक स्तर पर भोजन का मूल्य अधिक है और आध्यात्मिक स्तर पर भक्ति का मूल्य अधिक है।

वहुत वार प्रश्न आता है कि गृहस्थी का स्थान ऊंचा है या संन्यास का स्थान ऊचा है ? इसकी तुलना करना कठिन है। दो स्तरो के बीच समानता की वात नही सोची जा सकती। गृहस्थ के स्तर मे और सन्यासी के स्तर मे वहुत वडा अन्तर है। सामाजिक स्तर पर गृहस्थ का मूल्य अधिक है और अध्यात्म के स्तर पर संन्यासी का मूल्य ज्यादा है। किन्तु दोनो की तुलना नही की जा सकती। दोनो स्तर अलग है। जव तक यह स्तरीय बोध स्पष्ट नही होता, तव तक उलझनें पैदा होती रहती है। प्राचीन साहित्य मे कहा गया है—'गृहस्थाश्रमसमो धर्मो न भूतो न भविष्यति'—गृहस्थाश्रम के समान न तो कोई धर्म हुआ है और न होगा। इसी प्रकार संन्यास का भी अपना स्थान है। उसके समान कोई आश्रम नही है। स्तरों की तुलना नही हो सकती। हम उनका मूल्यांकन भिन्न-भिन्न दृष्टि से ही कर सकते हैं।

धर्म और सम्प्रदाय का अपना मूल्य है। धर्म है आध्यात्मिक चेतना का जागरण और सप्रदाय है चेतना के जागरण मे सहयोग देने वाला संस्थान। धर्म का लक्ष्य है वंधन-मुक्त होना। आज आक्रोश धर्म के प्रति नही, धर्म के नाम पर चलने वाली साप्रदायिकता के प्रति है। संस्थागत धर्म से विरोध हो सकता है, पर चारित्रिक धर्म से विरोध नही हो सकता। धर्म और सप्रदाय—दोनो का अपना-अपना मूल्य है।

कोई पूछता है कि घडा वना, इसमे ज्यादा योग मिट्टी का है या कुम्हार का ? ज्यादा कम नही वताया जा सकता। दोनो का अलग-अलग मूल्य है। मिट्टी मूल कारण है और कुम्हार निमित्त कारण है। घड़ा दोनो कारणो मे वना है। दोनो का अपना-अपना स्तरीय मूल्य है।

शिक्षा के क्षेत्र मे मूल्यो की चर्चा वहुत आवश्यक है। इसके दो पहलू है - मूल्य की सीमा का वोध और मूल्य-प्राप्ति के साधनो का वोध।

प्रश्न है कि विद्यार्थी को ये मूल्य कैसे प्राप्त कराए जाएं। जीवन-विज्ञान की प्रणाली मे मूल्य-प्राप्ति के साधनो के प्रयोग निर्धारित किए गए है। उनका अभ्यास करने से मूल्यात्मक चेतना विकसित होती है।

मूल्य-बोध मे दार्शनिक दृष्टि बहुत आवश्यक है और मूल्य-प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक प्रयोग जरूरी है। मूल्याकन मे बहुत अन्तर होता है, इसलिए दार्शनिक दृष्टि बहुत स्पष्ट होनी चाहिए। मूल्याकन समान नही होता। जब तक सर्वांगीण जीवन-दर्शन के द्वारा मूल्यपरक दृष्टि स्पष्ट नही होती तब तक मानसिक उलझने मिटती नही।

शिक्षा मे मूल्य-बोध जितना स्पष्ट होगा उतनी ही स्थिति स्पष्ट होगी और सामाजिक मूल्यो का सामंजस्य होगा। मूल्य-बोध की स्पष्टता और उनकी सीमा का बोध नितान्त आवश्यक है। अब हम कुछेक मूल्यो की चर्चा करे।

मानसिक सतुलन और धैर्य—ये दो मानसिक मूल्य है। तनाव के कारण अनेक उपद्रव होते है। तनाव मे मानसिक संतुलन अस्त-व्यस्त हो जाता है। सतुलन के अभाव मे समस्याएं पैदा होती है। पारिवारिक कलह, सामाजिक सघर्ष आदि असतुलन की देन है।

इस स्थिति मे विद्यार्थी को मानसिक असतुलन से होने वाली समस्याएं और परिणाम तथा मानसिक सतुलन से होने वाले लाभ का पूरा बोध कराना आवश्यक है। केवल बोध ही नही, उसे प्रयोगात्मक रूप से यह भी सीखाना जरूरी है कि मानसिक सतुलन कैसे प्राप्त किया जा सकता है। बोध और प्रयोग—दोनो आवश्यक है। इससे समाधान मिल सकता है।

मनोविज्ञान और दर्शन के क्षेत्र मे मानसिक संतुलन की चर्चाए हुईं। वहा इसकी पूरी जानकारी प्राप्त है, पर प्रयोग वहां उपलब्ध नही हैं, इस दृष्टि से वह जानकारी अधूरी रह जाती है।

विद्यार्थी को केवल मूल्य-बोध करा देना ही पर्याप्त नही है, उसको प्रयोग सिखाने चाहिए। जानकारी का अगला चरण है प्रयोग। दोनो पक्ष सयुक्त है। मानसिक सतुलन उपायो के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और वातावरण को अच्छा बनाया जा सकता है। कोई व्यक्ति अपने मानसिक स्वास्थ्य को नहीं बिगाडता है तो यह बहुत बडी बात है। मानसिक अस्वास्थ्य या असतुलन के कारण ही सारी समस्याएं उभरती हैं।

आज की शिक्षा मे ज्ञानात्मक पक्ष उजागर है, किन्तु प्रयोगात्मक पक्ष कमजोर है या है ही नही। इसलिए शिक्षा अधूरी है, लगड़ी है। यदि उसे पूरी बनाना है तो दोनो पक्षो—बौद्धिक और प्रयोगात्मक—की संयोजना करनी होगी। यही जीवन-विज्ञान की प्रणाली है।

शिक्षा और जीवन-मूल्य (२)

पानी मे गंदगी हो तो उसे फिल्टर कर पीया जा सकता है। किन्तु पानी साफ नही है, इसलिए पानी पीना बद नही किया जा सकता। यदि कोई पानी पीना छोड दे तो उसे तडफ-तडफ कर प्राण देना पडेगा।

आज चिन्तन की जटिलता चल रही है, इसलिए शिक्षा के साथ धर्म की बात को नही जोडा जा रहा है। धर्म के विना चरित्र की कोई सभावना नही हो सकती। जव चरित्र नही है तो व्यक्तित्व का समग्र विकास नही हो सकता।

भगवान् महावीर ने व्यक्तियो को चार भागो मे बाटा है—

१. ज्ञान-सपन्न किन्तु शील-सपन्न नही।

२. शील-सपन्न किंतु ज्ञान-सपन्न नही।

३. ज्ञान-सम्पन्न भी शील-सम्पन्न भी।

४ न ज्ञान-सम्पन्न और न शील-सम्पन्न।

इनमे तीसरा विकल्प समग्र व्यक्तित्व का बोधक है। शिक्षा का उद्देश्य है—ऐसी चेतना का विकास जिससे ज्ञान और आचार—दोनो को बल मिले। बौद्धिक पाठ्यक्रम से ज्ञान पढाया जा सकता है, अनेक विद्या-शाखाओ का अध्ययन कर ज्ञान को व्यापक बनाया जा सकता है, किन्तु उससे चरित्र का विकास नही हो सकता। चरित्र का विकास करना बुद्धि का काम नही है। यह दूसरी शक्ति का काम है। बुद्धि भी मस्तिष्क का कार्य है। चरित्र का विकास करना भी मस्तिष्क का कार्य है। पर इनके लिए सेन्टर भिन्न-भिन्न हैं। बुद्धि का सेन्टर है—रीजनिंग माइन्ड और चरित्र-विकास का सेन्टर है—एमोशनल माइन्ड। बुद्धि का काम है निर्णय करना, निश्चय करना। यह विवेक का क्षेत्र है। एमोशनल माइन्ड मे सवेगो पर नियन्त्रण करने के सेन्टर हैं। चरित्र-विकास के लिए नियन्त्रण की क्षमता को वढाना आवश्यक है।

मूल्य दो प्रकार के होते हैं—साध्यमूल्य और साधनमूल्य। नियन्त्रण साधन-मूल्य है। इसके द्वारा साध्य की दिशा मे, समग्र व्यक्तित्व के विकास की दिशा में प्रगति की जा सकती है।

प्रश्न होता है कि धर्म क्या है? सम्प्रदायो के आधार पर धर्म की अनेक परिभाषाए की गई हैं। सम्प्रदाय-निरपेक्ष भाषा मे धर्म की परिभाषा यह हो सकती है—अपने सवेगो पर नियन्त्रण की क्षमता का विकास ही धर्म है।

संत डायोगनिज के पास एक व्यक्ति ने आकर पूछा—मैं धर्म की परिभाषा जानना चाहता हूं। डायोगनिज ने कहा—अभी तो मैं व्यस्त हूं। तुम अपना ठिकाना बता दो, मैं धर्म की परिभाषा लिखकर भेज दूगा। उसने अपना पता लिखा दिया। सत ने पूछा—क्या तुम वहा सदा रहते हो? उसने कहा—यदा-कदा बाहर चला जाता हू।

संत ने कहा—तुम अपना स्थायी पता बताओ। उसने कहा—अमुक दिनो मे वहां रहता हूं, अमुक दिनो मे वहा रहता हूं। सत ने कहा—स्थायी पता बताओ। वह व्यक्ति 'स्थायी पता' 'स्थायी पता', सुनकर तमतमा उठा। वह क्रोध मे अपनी ही छाती पर, आनन्द केन्द्र पर, मुक्का मारते हुए बोला—यहा रहता हू। यह है मेरा स्थायी पता। सत ने कहा—यहां रहना ही धर्म है। यही है धर्म की परिभाषा। यहां से बाहर जाना अधर्म है।

जीवन-विज्ञान के आधार पर धर्म की परिभाषा है—सवेगो और आवेगो पर नियन्त्रण करने की शक्ति का विकास करना।

यह धर्म शिक्षा के साथ जुडता है तो किसी भी धर्म-सम्प्रदाय को कोई आपत्ति नही हो सकती। इसमें न साम्प्रदायिकता का प्रश्न है और न जातीयता और राष्ट्रीयता का प्रश्न है। यह निर्विशेषण धर्म है। इसका समावेश शिक्षा में होना अनिवार्य है। यदि यह शिक्षा के साथ जुडता है तो शिक्षा का आज जो लंगडापन है वह मिट जाता है। अन्यथा ज्ञान वढ़ेगा, पर चरित्र नही वढ सकेगा। समग्र व्यक्तित्व उस व्यक्ति का होता है जो ज्ञान-सम्पन्न भी है और आचार-सम्पन्न भी है।

केवल पढा-लिखा होने मात्र से पारिवारिक सामंजस्य नही हो जाता। पढा-लिखा व्यक्ति भी बहुत झगड़ालू होता है। उसमे ज्ञान का अह होता है और तब उसका विवेक जागृत नही होता। जब तक परिवार के सदस्य मे ज्ञान के साथ आचार की बात विकसित नही होती तब तक वह परिवार के लिए खतरा बना रहता है। उसका पारिवारिक जीवन विवादग्रस्त बन जाता है। वह सह-अस्तित्व की बात भूल जाता है। जो व्यक्ति परिवार मे सामजस्यपूर्ण स्थिति स्थापित कर सकता है, वह कम पढ़ा-लिखा होने पर भी अधिक उपयोगी होता है। जो ऐसा नही कर सकता, वह कितना ही पढ-लिख जाए उसका ज्ञान मूल्यहीन है। आदमी दूसरे आदमी से जुडता है, उसमे उसका व्यवहार मुख्य कारण बनता है, ज्ञान नही। यदि उसका व्यवहार मृदु और सौहार्दपूर्ण है तो वह सबका प्रिय बन जाता है। लोग उसके व्यवहार की प्रशंसा करेंगे, उसके ज्ञान को नही पूछेंगे।

ज्ञान बहुत खतरनाक होता है। आचरणमुक्त ज्ञान अत्यन्त खतरनाक होता है। इस खतरे को आज जन-जन भोग रहा है, फिर भी उसी बुद्धि और ज्ञान की पूजा की जा रही है, उसी को बढ़ाने का प्रयत्न हो रहा है।

हमारा प्रारम्भ अधिकार पक्ष से होता है। बच्चा अपने अस्तित्व को तृप्त करने के लिए प्रयत्न करता है। शिक्षा का काम है अधिकार पक्ष को सीमित कर दायित्व पक्ष को विकसित करना। जब दायित्व पक्ष विकसित नही होता है और अधिकार पक्ष रहता है तो वह खतरनाक सिद्ध होता है। आज जो आर्थिक और सत्तागत समस्याएं है वे सारी अधिकार पक्ष के साथ जुड़ी हुई है। अधिकार पक्ष की मनोवृत्ति बचपन से ही शुरू हो जाती है और वह क्रमश: बढ़ती जाती है। जब सामाजिक और पारिवारिक दायित्व की चेतना नही जागती तब निरकुश अधिकार पक्ष सारे चरित्र को ले डूबता है। शिक्षा का काम है—दायित्व की चेतना को जगाना और उस चेतना का जागरण धर्म या अध्यात्म की शिक्षा के बिना सम्भव नही है। इसके बिना वातावरण या परिस्थिति के साथ सामंजस्य स्थापित करने की स्थिति नही बनती।

अनेकान्त की पहली शर्त है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के साथ सामजस्य स्थापित करना। आज यह अध्ययन किया जा रहा है कि स्वभाव और चरित्र मे क्या सम्बन्ध है? हमारे स्वभाव और चरित्र का सम्बन्ध वस्तु के साथ नही, क्षेत्र के साथ है और विभिन्न अवस्थाओं के साथ है। वातावरण के साथ सामंजस्यपूर्ण स्थिति चारित्रिक विशेषता प्रदान करती है। जो व्यक्ति पढ़ा-लिखा होकर भी परिस्थिति और वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित नही कर सकता, वह चरित्रवान् नही हो सकता। सामंजस्य हमारे जीवन का मूल्य है। यह सह-अस्तित्व का मूल मन्त्र है। इस स्थिति के निर्माण करने में दर्शन और धर्म का पूरा सहयोग रहता है। जीवन-विज्ञान के क्षेत्र मे दर्शन का अर्थ है—सर्वांगीण जीवन दर्शन, वह जीवन जो एकपक्षीय न हो।

अब प्रश्न यह रहता है कि सर्वांगीण जीवन दर्शन के प्रति हमारी रुचि कैसे बढे और नियन्त्रण की शक्ति का विकास कैसे हो?

इस प्रश्न के समाधान मे हमें विनम्रता के मूल्य को विकसित करना होगा। प्राचीन सूत्र है—**'विद्या ददाति विनयम्'**—विद्या विनय उपलब्ध कराती है। इसको हम इस प्रकार बदल दें—**'विनयो ददाति विद्याम्'**—विनय विद्या उपलब्ध कराता है। दोनो का सम्बन्ध है। एक चक्र बन जाता है। विद्या विनय देती है। विनय विद्या देता है। यह भी रूढ़ जैसा बन गया है। हम हार्द को कम पकड़ पा रहे हैं कि विद्या विनय कैसे देती है? विनय विद्या कैसे देता है।

विद्या ग्रहणशील व्यक्ति को प्राप्त होती है। जो ग्रहणशील नही होता वह विद्या को प्राप्त नही कर सकता। ग्रहणशील वह होता है जो विनम्र होता है। वह विद्या को पकड पाता है। यह हीनभावना या लाचारी नही है। आज शिक्षा के क्षेत्र मे विनय को हीनभावना माना जाता है। मूल्य बदल

गया।

विनय की परिभाषा है—ग्रहणशीलता। यहा कोई अवरोध नही, रुकावट नही। द्वार सदा खुला रहता है। शिक्षा के साथ यह बात जुड़नी चाहिए। किंतु यह भी धार्मिक चेतना के बिना नही हो सकती। जब आवेगों पर नियन्त्रण पाने मे कठिनाई होती है तब समग्र जीवन-दर्शन की प्राप्ति संभव नही होती। जिस दर्शन की प्रणाली मे सामाजिक, आर्थिक और नैतिक मूल्य तथा मानसिक और आध्यात्मिक मूल्यो की सभावना का समावेश नही होता, वह एकांगी है। उससे बहुत भला नही होता। सर्वांगीण दर्शन वह होता है जिसमें विभिन्न स्तरीय मूल्यो का सामजस्य होता है। यह शिक्षा का सर्वांगीण दर्शन बनता है।

जीवन-विज्ञान : व्यापक संदर्भ में

व्यवस्था का बदलना ही पर्याप्त नहीं

एक युवती शीशे के सामने जाकर खडी हुई। उसका मुंह मुहासों से भरा हुआ था। वह उसे बहुत भद्दा लग रहा था। उसने शीशे मे देखा। मुह क्रोध से लाल हो गया। उसने शीशे को साफ किया, फिर भी मुहासो में कोई फर्क नही पडा। मुंह को साफ किया, शीशे मे देखा, पर मुह कुरूप ही नजर आया। वह सुन्दर नही बना। आवेश बढा और उसने शीशे के टुकड़े-टुकडे कर डाले। पर मुह साफ नही हुआ, मुहासे नही मिटे।

शिक्षा बिंब है और समाज उसका प्रतिबिम्ब। शिक्षा का तंत्र यदि मुहासो से भरा है तो समाज वैसा ही बनेगा, समाज को स्वच्छ नही बनाया जा सकता।

आज कुछ उल्टा क्रम चल रहा है। आज शिक्षा के बारे मे सबसे ज्यादा उपेक्षा बरती जा रही है, जबकि सारे समाज का निर्माण शिक्षा से भी होता है। इस स्थिति मे यह सोचना अत्यन्त आवश्यक है कि कितना योग्य होना चाहिए शिक्षक ? कितनी चाहिए शिक्षा की व्यवस्था और कितना चाहिए शिक्षक और शिक्षा का सम्मान ? किन्तु सारा विपरीत ही चल रहा है। आज गरीबी की समस्या है, जातिवाद और छुआछूत की समस्या है, साम्प्रदायिकता की समस्या है और न जाने कितनी और समस्याए है। इन सबका कारण यही है कि आज शिक्षा पद्धति सही नही है। ये सब समस्याएं कैसे मिटेंगी। भगवान् स्वय आ जाएं और प्रधानमन्त्री के पद पर बैठ जाएं, किन्तु शिक्षा को बदले बिना समाज को नही बदला जा सकता। समाज को बदलने का एकमात्र साधन है शिक्षा-तंत्र। वहा से विद्यार्थियो मे बीज-वपन होता है। शिक्षा बदलेगी तो समाज-व्यवस्था मे भी परिवर्तन आएगा। समाज-व्यवस्था को शिक्षा में देखा जा सकता है। जब रूस मे समाज-व्यवस्था बदली तो सबसे अधिक ध्यान शिक्षा पर दिया। जब तक शिक्षक को साचे मे नही ढाला जाएगा, तब तक शिक्षा नही चलेगी। यह तब चलेगी जब विद्यार्थियो को यह समझ मे आ जाए कि शिक्षा-प्रणाली हमारे लिए अच्छी है। जब तक बीज का वपन नही होता है तब तक बच्चे के सस्कार अंकुरित नही होते। जहा से बीज का वपन शुरू होता है, वहा से बीज का संस्कार अकुरित होने लगता है। आज उस स्थान की पूर्ण उपेक्षा है तो फिर समाज परिवर्तन की बात ही प्राप्त नही होती। समाज परिवर्तन के लिए दो बाते जरूरी हैं—सवेग पर नियन्त्रण और विचारो पर नियन्त्रण की क्षमता का विकास।

विद्यार्थी समाज मे आता है, सामाजिक जीवन जीता है। वह आज समाज को अच्छा नही बना रहा है। इसका कारण है कि उसमे नियन्त्रण की शक्ति नही है। यह शाश्वत सत्य है कि जब तक व्यक्ति मे सवेगो, विचारो और वासनाओ पर नियन्त्रण करने की क्षमता नही होती, तब तक अच्छा समाज नही बन सकता। वह अपराधियो का समाज होगा, स्वच्छ समाज कभी नही होगा।

महामात्य कौटिल्य ने लिखा है—शासको और समाज को इन्द्रियजयी होना चाहिए। उसने यह बात साधना या वीतराग बनने के लिए नही कही, किन्तु इसलिए कही कि यदि शासक इन्द्रियजयी नही होता है तो जनता उत्पीड़ित होती है। यदि वह इन्द्रियजयी है तो जनता सुख-सम्पन्न होती है। शासक-वर्ग की इन्द्रिय-उच्छृखलता के कारण ही अनेक समस्याएं उभरी है। जिस समाज मे इन्द्रिय-सयम की बात नही होती, उस समाज मे चोरियां, डकैतिया, बलात्कार और अपराध बढ़ते जाते है।

शिक्षा का काम है बौद्धिक विकास के साथ-साथ विद्यार्थी मे विचारों पर, सवेग और सवेदनाओ पर नियन्त्रण की क्षमता को बढ़ाना, उस शक्ति को जागृत करना।

आज की शिक्षा से पहला काम बौद्धिक विकास तो पर्याप्त मात्रा में हो रहा है। दूसरा काम नही हो रहा है। इसलिए आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया, जिससे कि व्यक्ति अच्छा आदमी, अच्छा नागरिक बन सके, अच्छे समाज का निर्माण हो। उसके लिए आचार-सहिता तैयार हो गई। पर उस आचार-सहिता का क्रियान्वयन कैसे हो, इस चिन्तन के उपक्रम से प्रेक्षाध्यान का विकास हुआ। इसका क्रियान्वयन शिक्षा-जगत् के लिए वरदान है। शिक्षा-जगत् मे यह बहुत ध्यान देने योग्य बात है कि शिक्षा का आधार बायोलोजिकल एस्पेक्ट होना चाहिए था। पर आज वह पूर्णत उपेक्षित हो रहा है। बायोलोजिकल एस्पेक्ट से जब व्यक्तित्व का निर्माण होता है तब बौद्धिक विकास के साथ-साथ चरित्र का भी निर्माण होता है।

दो पक्ष है—बौद्धिक विकास और सवेग-नियन्त्रण। बौद्धिक विकास तो अपनी चरम सीमा पर पहुंचने को तैयार है, किन्तु सवेग-नियन्त्रण अभी बाल्य अवस्था मे ही है। आज के विश्वविद्यालयो मे विद्या की जो शाखाएं हैं वे अनगिन है, किन्तु सवेग-नियन्त्रण की विद्या को भाग-भरोसे छोड दिया गया है। यदि हम प्रतिशत मे बाटे तो पचास प्रतिशत मूल्य है बौद्धिक विकास का और पचास प्रतिशत मूल्य है सवेग-नियन्त्रण का। बौद्धिक विकास ने अपना पूरा मूल्य पा लिया है। यदि भावनात्मक विकास सध जाता है तो अच्छे समाज के निर्माण मे समय नहीं लगता। जीवन-विज्ञान-पद्धति की

शिक्षा के द्वारा जिस समाज का निर्माण होगा, उसमे न उत्पीडन होगा, न जातिवाद की क्रूरता होगी, न छुआछूत होगा और न शोषण की समस्याएं होगी।

स्वच्छ समाज की परिकल्पना के लिए अणुव्रत आन्दोलन ने जो प्रारूप प्रदान किया है, वह जीवन-विज्ञान के सन्दर्भ मे एक विनम्र प्रयत्न है, नया दृष्टिकोण है। जिन लोगो ने केवल समाज-व्यवस्था को बदलने का प्रयत्न किया, जिनमे रूस और चीन प्रमुख है। उनका अनुभव है कि व्यवस्था के बदल जाने पर भी आदमी नहीं बदलता।

आज वहां समाज-व्यवस्था बदली है पर आदमी का हृदय नही बदला है, इसीलिए वहां अनेक प्रकार के आर्थिक घोटाले होते है, जघन्य अपराध होते हैं। तब तक हृदय नही बदलता, जब तक संवेग-परिष्कार की भावना नही उमड़ती हैं। संवेग-परिष्कार के बिना बुराइयो से नही बचा जा सकता।

शिक्षा के सार्वभौम और अन्तर्राष्ट्रीय तथ्यो के आधार पर एक परिकल्पना की गई, जिसमे दोनों पक्षो—बौद्धिक और भावनात्मक का सतुलित विकास हो। पूरे चिन्तन और मनन के पश्चात् यह परिकल्पना सामने रखी गई है और इसके प्रयोग का श्रेय पहले पहल राजस्थान को मिला है। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री मजूमदार ने कहा कि एटीट्यूड को बदलने की प्रक्रिया अभी हमारे पास नही है। इसके द्वारा समाज का कल्याण हो सकता है। जड़ की बात को पकडना बहुत जरूरी है। प्रायः लोग पत्तियो की कांट-छाट कर संतोष कर लेते है। पत्तियां झड जाती हैं। पतझड़ आता है। बसत आता है। फिर पतझड़ आता है। फिर बसत आता है। यह कोई परिवर्तन नही है।

यदि दृश्य को, समाज को, स्वच्छ और अच्छा बनाना है, व्यसन-मुक्त और अपराध-मुक्त बनाना है तो शिक्षा के साथ संवेग-परिष्कार की बात को जोड़ना होगा। इसके सिवाय कोई विकल्प नही है। आज का विद्यार्थी पचीस वर्ष तक पूरी उच्छृखलता मे पनपता है। जब वह समाज मे आता है तो उसकी अपराधी मनोवृत्ति से समाज के लोग चिन्तित हो जाते है। केवल बौद्धिक विकास के कारण वे विद्यार्थी शस्त्र- से बन जाते हैं। धार तेज है। जब धार तेज होगी तो वह काटेगी ही। जब शस्त्र तेज होगा तो वह अपना काम करेगा ही। एक बात है, शस्त्र बने, धार तेज हो, कोई चिन्ता नही है, पर उस पर खोल होना चाहिए। खड्ग हो और म्यान न हो तो वह स्वयं को ही काट देता है। बौद्धिक विकास बहुत जरूरी है, पर वह काटे नही। नैतिकता का उस पर खोल रहे, नियन्त्रण की क्षमता बढ़े। इस संतुलन की हम कल्पना करे।

जीवन-विज्ञान से शिक्षा का क्षेत्र तेजस्वी बनेगा और नए व्यक्तित्वों का निर्माण होगा।

सा विद्या या विमुक्तये

हमे उस सचाई को खोजना है जिससे व्यक्ति और समाज का दुःख कम हो सके। पुरानी भाषा मे इसे कहा—बंधन टूटे। भाषा का अन्तर हो सकता है, तात्पर्य दोनो का एक ही है। दुःख बधन है, बंधन दुःख है।

शिक्षाजगत् का प्रसिद्ध सूत्र है—**'सा विद्या या विमुक्तये'**—विद्या वही है जिससे मुक्ति सधे। मुक्ति के अर्थ को हमने एक सीमा मे बाध दिया। हमने उसे मोक्ष के अर्थ मे देखा। मोक्ष की बात बहुत आगे की है, मरने के बाद की है। जिसको जीते जी मुक्ति नही मिलती, उसको मरने के बाद भी मुक्ति नही मिल सकती। जब वर्तमान क्षण मे मुक्ति मिलती है तो वह आगे भी मिल सकती है। जो वर्तमान क्षण मे बधा रहता है, उसे आगे मुक्ति मिलेगी, ऐसी कल्पना भी नही की जा सकती। मुक्ति का एक व्यापक संदर्भ है। उसे हमे समझना है। उसे समझ लेने पर हमारा दृष्टिकोण बहुत कार्यकर होगा।

शिक्षा के क्षेत्र मे मुक्ति का पहला अर्थ है—अज्ञान से मुक्त होना। अज्ञान बहुत बडा बन्धन है। अज्ञान के कारण ही व्यक्ति अनेक अनर्थ करता है। इसे आवरण माना गया है। आवरण बन्धन है। शिक्षा का पहला काम है—इस बन्धन से मुक्ति दिलाना, अज्ञान से मुक्त करना। इस परिप्रेक्ष्य मे हम कहेगे—**'सा विद्या या विमुक्तये'**—शिक्षा वह है जो अज्ञान से मुक्त करती है।

मुक्ति का दूसरा सदर्भ होगा— सवेगो के अतिरेक से मुक्ति। आदमी मे सवेग का अतिरेक होता है और वह आदमी को पकड लेता है, आसानी से नही छूटता। जब तक व्यक्ति वीतराग अवस्था को प्राप्त नही हो जाता तब तक वह सवेगो से पूर्णरूपेण छुटकारा नही पा सकता। सवेगो के अतिरेक के कारण आदमी न परिवार मे, न समाज मे और न गाव मे फिट हो सकता है। वह दूसरो के लिए सिरदर्द बन जाता है। ऐसी स्थिति मे यह स्वय प्राप्त होता है कि शिक्षा उसे संवेग के अतिरेक से मुक्ति दिलाए। इसका अर्थ है कि मनुष्य मे सवेगो पर नियत्रण करने की क्षमता बढे जिससे कि सवेगो की प्रचुरता न रहे। वे एक सीमा मे आ जाये।

मुक्ति का तीसरा सदर्भ होगा—सवेदो के अतिरेक से मुक्ति। इंद्रियो की जो सवेदनाएं है उनका अतिरेक भी समस्याए पैदा करता है और समाज मे अनेक उलझनें उत्पन्न करता है। शिक्षा का यह महत्त्वपूर्ण कार्य है कि वह

संवेदनाओ के अतिरेक से व्यक्ति को मुक्ति दिलाए।

मुक्ति का चौथा संदर्भ होगा—धारणा और संस्कार से मुक्ति। व्यक्ति धारणाओं और अर्जित संस्कारों के कारण दुःख पाता है। शिक्षा का कार्य है कि वह इनसे मुक्ति दिलाए।

मुक्ति का पांचवां संदर्भ होगा—निषेधात्मक भावों से मुक्ति। व्यक्ति का नेगेटिव एटिट्यूड समस्या पैदा करता है। इससे मुक्त होना भी बहुत आवश्यक है।

इन पाच संदर्भो मे मुक्ति को देखने पर **'सा विद्या या विमुक्तये'** का सूत्र बहुत स्पष्ट हो जाता है। वास्तव मे विद्या वही होती है जो मुक्ति के लिए होती है, जिससे मुक्ति सधती है। हम कसौटी करे और देखे कि क्या आज की शिक्षा से ये पांचो सदर्भ सधते है ? क्या वास्तव मे अज्ञान आदि से मुक्ति मिलती है ? यदि अज्ञान आदि से मुक्ति मिलती है तो वह शिक्षा परिपूर्ण है और यदि नही मिलती है तो उसमे कुछ जोड़ना शेष रह जाता है। जीवन-विज्ञान की पूरी कल्पना इन संदर्भो के परिप्रेक्ष्य मे की गई है। जिन-जिन संदर्भो मे मुक्ति की बात सोच सकते है, वे बाते शिक्षा के द्वारा फलित होनी चाहिए।

आज शिक्षा के द्वारा अज्ञान की मुक्ति अवश्य ही हो रही है। आज ज्ञान बढ रहा है, बौद्धिक विकास हो रहा है। किन्तु सवेग के अतिरेक से मुक्ति आदि की बाते शिक्षा से जुडी हुई न हो, ऐसा प्रतीत होता है। लोगो की धारणा यही है कि यह बात धर्म के क्षेत्र की है, शिक्षा के क्षेत्र की नही है। यह धारणा अस्वाभाविक भी नही है, क्योकि धर्म का मूल अर्थ ही है सवेगो पर नियंत्रण पाना। यह धर्म के मंच का काम होना चाहिए। शिक्षा-क्षेत्र का यह कार्य क्यो होना चाहिए ? ऐसा सोचा जा सकता है। पर वर्तमान परिस्थिति मे धर्म की भी समस्या है और वह यह है कि धर्म का स्थान मुख्यत. सम्प्रदाय ने ले लिया है। इसलिए साम्प्रदायिक वातावरण मे धर्म के द्वारा सवेग-नियंत्रण की अपेक्षा रखना निराशा की बात है।

एक स्थिति यह है कि आज का विद्यार्थी जिस परिवार मे जन्म लेता है, जहां पलता है, उस परिवार मे जो धार्मिक संस्कार है, जिस सम्प्रदाय की मान्यता है, उसके सम्पर्क मे भी वह बहुत कम रह पाता है। दिन मे वह इतना व्यस्त रहता है कि उठते-बैठते ही वह विद्यालय जाने की बात सोचता है और वहा से लौटने पर गृह-कार्य (होम वर्क) में निमग्न हो जाता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक घर मे रहते हुए भी पिता-पुत्र नही मिल पाते। आज सामाजिक वातावरण और स्थितिया ही ऐसी बन गई है। एक व्यक्ति से मैंने पूछा—क्या तुम कभी अपनी सतान को शिक्षा देते हो ? वह बोला—महाराजजी ! मैं सुबह देरी से उठता हू, तब तक लडका स्कूल चला जाता है।

जब वह स्कूल से लौटकर आता है तब तक मैं ऑफिस मे रहता हू। जब मै देरी से घर लौटता हू, तब तक वह सो जाता है और सुबह जल्दी उठकर चला जाता है। आमने-सामने होने का कभी अवसर ही नही आता। केवल रविवार को मिलते है, कुछ बात कर लेते है, और समाप्त।

ऐसे वातावरण मे धर्म के द्वार बच्चे को कुछ मिल सकेगा, ऐसी संभावना नही की जा सकती। इस स्थिति मे बालक का निर्माण शिक्षा से जुड जाता है, अत हमे सोचना होगा कि शिक्षा के साथ कुछ ऐसे तत्त्व और जुडने चाहिए, जिनसे बच्चे के सस्कारों का निर्माण हो और उसे वह मौका भी मिले कि वह अपने सवेगो और संवेदनाओ का परिष्कार भी कर सके। आज दोनो कामो को एक ही मच से करना होगा। बच्चो का निर्माण भी हो और सस्कार-परिष्कार भी हो। शिक्षा के क्षेत्र से ये दोनो काम हो सकते है। इस दृष्टि से शिक्षा जगत् का दायित्व दोहरा हो जाता है। यह बहुत बडा दायित्व है। 'फेरो' ने बहुत बडी बात कही है—'वर्तमान विद्यालय व्यक्ति को साक्षर बनाते है, शिक्षित नही बनाते।' साक्षर बनाना एक बात है और शिक्षित करना दूसरी बात है। आज की साक्षरता भी कुछ ऐसी हो गई है कि उसकी तुलना कम्प्यूटर या टेपरिकार्डर से की जा सकती है। हमने भ्रमवश स्मृति और बुद्धि को एक मान लिया है। स्मृति और बुद्धि एक नही है। कम्प्यूटर में इतनी तीव्र स्मृतिया नियोजित है कि आदमी उसके सामने कुछ भी नही है, बहुत छोटा है आज का युग कम्प्यूटर का होता जा रहा है। सूचनाओ, ज्ञान और आकड़ो का सम्बन्ध स्मृति से है। टेपरिकार्डर सारी बात दुहरा देता है।

शिक्षा का काम केवल स्मृति को बढ़ाना ही नही, केवल आंकडो से मस्तिष्क को भरना ही नही है, साक्षरता ला देना ही उसका काम नही है, उसका काम भावो का परिष्कार करना भी है। इसी से व्यक्ति मे स्वतन्त्र निर्णय, स्वतंत्र चिन्तन और दायित्व-बोध की क्षमता विकसित होती है। यह तभी सम्भव है कि शिक्षा केवल साक्षरताभिमुख न रहे। उसमे कुछ और भी जुडे।

सवेग और सवेद—ये दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, क्योकि वर्तमान मे जो सामयिक समस्याए है वे सारी इन दो तत्त्वो के साथ जुडी हुई है। जो शिक्षा प्रणाली विद्यार्थी को समाज की वर्तमान समस्याओ के सदर्भ मे कुछ कार्य करने की प्रेरणा नही देती, वह शिक्षा-प्रणाली बहुत काम की नही होती। फेरो ने ठीक ही लिखा है—'साक्षर व्यक्ति केवल सरकार का ईंधन बनता है।' आज की शिक्षा ईंधन मात्र तैयार कर रही है, ज्योति तैयार नही करती। ज्योति और ईंधन एक बात नही है। ईंधन तैयार करना बहुत बडी बात नही है। बड़ी बात है ज्योति प्रज्वलित करना।

आज समूचे विश्व मे बहुत क्रांतदृष्टि से सोचा जा रहा है कि शिक्षा में क्या परिवर्तन होना चाहिए। जिस शिक्षा से समाज मे, व्यवस्थाओ में परिवर्तन नही आता, संकट कम नही होता, समाज का उत्पीडन कम नही होता, उस शिक्षा को भारतीय दर्शन मे अशिक्षा और ज्ञान को अज्ञान माना है। भारत की प्रत्येक धर्म-परम्परा मे यह स्वर समान रूप से मिलेगा कि जिससे संयम की शक्ति और ज्ञान की शक्ति नही बढ़ती, वह ज्ञान अज्ञान है। जिसमें त्याग और संयम नही है, वह पडित नही अपंडित है।

जैन ग्रंथों मे 'बाल' और 'पडित'—ये दो शब्द प्रचलित है। बाल तीन प्रकार के होते हैं। एक बाल होता है अवस्था से, दूसरा बाल होता है अज्ञान से और तीसरा बाल होता है असंयम से। जिसमे त्याग की क्षमता नही है, वह सत्तर वर्ष का हो जाने पर भी 'बाल' कहा जाएगा। जिसमे त्याग की क्षमता है, अस्वीकार की क्षमता है, बलिदान की क्षमता है, वह चाहे बीस वर्ष का ही हो फिर भी उसे पडित कहा जाएगा, बाल नही कहा जाएगा। गीता मे पंडित उसे कहा है जिसके सारे समारम्भ वर्जित हो गए है। जैन आगम सूत्रकृताग मे एक चर्चा के प्रसंग मे प्रश्न रखा गया है कि 'बाल' और 'पंडित' किसे कहा जाए? सूत्रकार ने उत्तर दिया—'**अविरइं पडुच्च बालेत्ति आह, विरइं पडुच्च पंडिएत्ति आह**'—जिसमे अविरति है, अपनी इच्छाओ पर नियत्रण करने की क्षमता नही, वह 'बाल' है। जिसमें विरति है, अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण करने की क्षमता है, वह 'पंडित' है।

इच्छा प्राणीमात्र का असाधारण गुण है, विशिष्ट गुण है। जिसमें इच्छा नही होती, वह प्राणी नही होता। यह प्राणी और अप्राणी की भेद-रेखा है। मनुष्य मे इच्छा पैदा होती है। इच्छा पैदा होना एक बात है। और किस इच्छा को स्वीकार करना, किस इच्छा को अस्वीकार करना, यह काट-छाट मनुष्य ही कर सकता है। अन्य प्राणी ऐसा नही कर सकते। मनुष्य की विवेक चेतना जागृत होती है, इसलिए वह इच्छा की काट-छांट कर सकता है। वह हर इच्छा को स्वीकार नही करता। यदि वह प्रत्येक इच्छा को स्वीकार करता चले तो सारी व्यवस्था गडबड़ा जाती है। एक सुन्दर मकान देखा, किसकी इच्छा नही होगी कि मैं इस मकान मे रहू? इच्छा हो सकती है। रास्ते मे खड़ी सुन्दर कार को देखा, कौन नही चाहेगा कि मैं इसमे सवारी करू। इच्छा हो सकती है। प्रत्येक रमणीय, सुन्दर और मनोरम वस्तु के लिए व्यक्ति की इच्छा हो सकती है। पर वह यह सोचकर इच्छा को अमान्य कर देता है कि यह मेरी सीमा की बात नही है। यह है विवेक-चेतना का काम।

शिक्षा का काम है कि वह मनुष्य-मनुष्य मे विवेक-चेतना को जगाए। इससे संवेग-नियन्त्रण और संवेदनाओ तथा आवेगो पर नियन्त्रण करने की

क्षमता पैदा होती है।

आज युग बदल गया, परिस्थितिया बदल गई, किंतु हमारी धारणाएं और सस्कार नही बदले। युग के साथ-साथ जो परिवर्तन आना चाहिए था, वह नही आया। आज समाज मे ओसर-मोसर की बात, छुआछूत और दहेज की बात वैसे ही चल रही है जैसे वह प्राचीन काल मे चलती थी। प्राचीन काल मे, सम्भव है, इनका मूल्य रहा हो, पर आज वे सब मूल्यहीन हो गए है। फिर भी ये सारी प्रवृत्तिया आज भी चल रही है। वे ही धारणाएं काम कर रही है। आश्चर्य तो तब होता है जब हम देखते है कि पढ़े-लिखे लोगो मे भी ये ही धारणाए है। अनपढ लोगो मे यदि ऐसी धारणाए और सस्कार होते है तो मान लिया जा सकता है कि उन लोगो को जानने-समझने का मौका ही नही मिला। परन्तु जब पढे-लिखे लोगो में ये धारणाए देखते है तब लगता है कि शिक्षा ने कोई काम नही किया। दवा तो ली, पर उसका कोई असर नही हुआ। इसका अर्थ है कि वह व्यर्थ है। सिरदर्द की दवा लेने पर भी यदि सिरदर्द न मिटे तो दवा की व्यर्थता है, कोई सार्थकता नही है। बहुत सारी सामाजिक समस्याएं जो सिरदर्द बनी हुई है, एक शिक्षित व्यक्ति मे उनका परिवर्तन होना चाहिए। अनेक अन्धविश्वास और रूढिया समाज के लिए सिरदर्द बनी हुई है। पढे-लिखे लोग भी इनके शिकार है। हम दहेज का ही प्रश्न ले। लडकी के घर वालो ने दहेज कम दिया। अब लडकी को यातनाए दी जाती है, पीडा पहुचाई जाती है और ऐसी स्थिति बना दी जाती है कि वह आत्महत्या कर प्राण देने के लिए मजबूर हो जाती है या उसकी हत्या कर दी जाती है। ऐसा अनपढ लोगो मे ही नही होता, पढे-लिखे लोगो मे भी होता है। यहा प्रश्न उभरता है कि शिक्षित लोग ऐसा क्यों करते है ? इसका एक ही उत्तर है कि उनमे बुद्धि तो है पर अपने सवेग पर नियन्त्रण रखने की क्षमता नही है। यहा सवेग होता है लोभ का। लोभ एक बडा सवेग है। जब लोभ प्रबल होता है तब बुद्धि उसके नीचे दब जाती है। सवेग और बुद्धि का शाश्वत सघर्ष है। बुद्धि निर्णय लेती है कि यह काम अच्छा नही है, नही करना चाहिए। किंतु जब सवेग प्रबल होता है, बुद्धि बेचारी कही दब जाती है और कार्य वही होता है जो संवेग का दबाव होता है।

उदयपुर मेडिकल कॉलेज के प्रिन्सिपल एम० आर० मेहता ने बताया कि उनके पास सेना का एक बहुत बडा अधिकारी चिकित्सा के लिए आया। वह शराब बहुत पीता था। शराब के कारण उसका लीवर, उसके फेफड़े खराब हो गए थे। वह भयकर रोग से पीडित था। वह शराब छोडना चाहता था, पर वह छूट नही रही थी, इसीलिए चिकित्सा की शरण मे आया।

प्रश्न होता है कि इतना बडा अधिकारी, शिक्षित व्यक्ति, जानता है

कि शराब खराब है, फिर भी शराब पीता है, क्यो ? आप भी कह सकते है कि बुराई जानता हुआ भी आदमी शराब क्यो पीता है ? यहा हमे एक सचाई पर ध्यान देना होगा। हम अनजान में गलतिया बहुत कम करते है। अधिकतर गलतिया जानते हुए ही होती है। अनजान मे चलते-चलते ठोकर लग सकती है, पर कोई आदमी आत्म-हत्या करने के लिए पाचवी मंजिल से गिरेगा तो वह अनजान मे नही गिरेगा। वह तो जानबूझकर ही गिरेगा। कभी चलते-चलते दुर्घटना हो सकती है। पर रेल के सामने जाकर सोना अनजान मे नही होता। आदमी अधिकाश गलतिया जानबूझकर ही करता है, अनजान मे गलतिया कम होती है। फिर प्रश्न होता कि आदमी जानबूझकर गलती क्यों करता है ? वह गलती इसलिए करता है कि सवेग पर उसका नियत्रण नही है। सवेग का जैसा दबाव होता है, वह वैसे ही करता है। इसलिए शिक्षा के द्वारा क्या हम अज्ञान को मिटाने का ही प्रयत्न करें या संवेग पर नियन्त्रण स्थापित करना भी सीखे ? इसका उत्तर हमे खोजना होगा। यदि हम इस बिंदु पर ही अटके रह गए कि केवल अज्ञान को मिटाना है, बौद्धिक विकास करना है तो स्वस्थ समाज के निर्माण की कल्पना नही की जा सकती और समाज व्यवस्था के परिवर्तन की बात नही सोची जा सकती। चक्र जिस गति से चल रहा है, वह वैसे ही चलता रहेगा। मै सोचता हू, आदमी ने राजतन्त्र को बदला और उसके स्थान पर जनतन्त्र ले आया। पर, हुआ क्या ? प्रणाली बदल गई पर आदमी तो नही बदला। जनतत्र की प्रणाली मे सत्ता पर बैठने वाला जानता है कि मैं स्थाई नही हू, जन्मना शासक नही हू। मुझे कोई पैतृक अधिकार प्राप्त नही हुआ है। पर उसके मन मे दूसरी भावना घर कर गई कि जितना अवकाश प्राप्त होता है उतना लाभ उठा लेना चाहिए। यही कारण कि राजतंत्र मे राजाओ का जो वैभव था, जो ठाटबाट था, आज जनतत्र के शासक मे उससे कम नही है, उससे अधिक वैभव और ठाटबाट है। पहले छोटे-छोटे राज्य होते थे, रियासते होती थी, सीमित आय और सीमित व्यय होता था। राजस्थान मे कितनी रियासतें थी ? आज पूरा राजस्थान एक बडा प्रान्त (राज्य) बन गया। असीम शक्ति केन्द्रित हो गई। आज राजस्थान का जो शासक है, उसके हाथ मे अपार शक्ति आ गई, जिसकी कल्पना छोटी-छोटी रियासते वाले राजा नही कर सकते। यह स्थानान्तरण तो हुआ, राजा के स्थान पर दूसरा जनतन्त्री शासक आ गया, पर व्यक्त्यतरण नही हुआ, रूपान्तरण नही हुआ। व्यवस्था का परिवर्तन तो हुआ, पर हृदय का परिवर्तन नही हुआ। प्रश्न है व्यक्तित्व के रूपान्तरण का। केवल स्थान बदलने से कुछ नही होता।

एक कोयल आम के पेड पर बैठी थी। उधर से एक कौआ तेज रफ्तार से उडकर जा रहा था। कोयल ने पूछा—भैया ! कहा भाग रहे हो ?'

कौआ बोला—'बहिन ! इस देश को छोड़कर विदेश जा रहा हूं, क्योंकि यहां मेरा सम्मान नही है। जहा जाकर बैठता हू, बोलता हू, वहा से उड़ा दिया जाता हू। सर्वत्र यह अपमान मुझे सहन करना पड़ता है कोयल बोली—'भैया ! स्थान को बदलने से क्या होगा ? तुमने 'कां, कां' करना छोडा या नहीं ? इसे बदले बिना कुछ नही होगा। तुम चाहे विदेश मे चले जाओ, वहा भी तुम उडा दिए जाओगे। स्थान परिवर्तन से कुछ नही होता, स्वभाव और वाणी को बदलने से ही सम्मान मिल सकता है।'

प्रश्न है स्वभाव को बदलने का। हमे इस ओर प्रयत्न करना है। मनुष्य बदले, व्यक्तित्व का रूपान्तरण हो, केवल स्थानान्तरण नही। हमे उपाय सोचना चाहिए। कोरा सिद्धात बहुत साथ नही दे सकता। उसकी उपयोगिता है। उसे अस्वीकार नही किया जा सकता। किंतु उपयोगिता एक सीमा तक है। जब तक सिद्धान्त का अभ्यास नही होता, तब तक कार्य पूरा नही बनता।

आज जो प्रश्न धर्म के सामने है, वे ही प्रश्न शिक्षा के सामने भी है। धर्म के सामने एक प्रश्न आता है कि आज इतने धर्म है, धर्मगुरु है, प्रवचन और क्रियाकाड है, फिर भी आदमी वैसा का वैसा है। अनैतिकता बढी है, घटी नही। फिर धर्म की अर्थवत्ता क्या रही ? उसकी व्यर्थता ही दृष्टिगोचर होती है। मैं इस विषय पर जो चिंतन प्रस्तुत करता हू वह यह है कि धर्म और धार्मिक बहुत है, प्रवचन और क्रियाकाड भी बहुत है, उपदेश करने वाले और सुनने वाले भी बहुत है, पर कोई व्यक्ति कोर्स पूरा नही करता। कोर्स पूरा किए बिना वह लाभदायक नही होता।

धर्म के कोर्स के तीन घटक है—श्रवण, मनन और निदिध्यासन। सुनना, मनन करना और फिर उसका ध्यान या अभ्यास करना। **'सवणे नाणे विण्णाणे पच्चक्खाणे"**—यह पूरा कोर्स है। सुनो, जानो, विवेक करो और प्रत्याख्यान करो—हेय को छोडो। आज केवल सुना जाता है, अभ्यास नही किया जाता। अभ्यास की बात छूट गई। इसीलिए समस्याए बढ रही है।

अर्जुन ने कृष्ण से पूछा—मन चचल है, दुर्निग्रह है, पकडा नही जाता। क्या उसका भी निग्रह किया जा सकता है ? कृष्ण बोले—**अभ्यासेन च कौन्तेय ! वैराग्येन च गृह्यते"**—अर्जुन ! मन का निग्रह दो उपाय से हो सकता है—अभ्यास और वैराग्य। पतंजलि ने भी समाधि की चर्चा करते-करते यही कहा—**"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'**—मन का निरोध अभ्यास और वैराग्य मे होना है। उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र मे कहा है—**'तद् अधिगमाद् निसर्गाद् वा'**—किसी-किसी को सम्यक्दर्शन निसर्ग से प्राप्त हो जाता है और कुछ व्यक्ति अभ्यास के द्वारा उसे प्राप्त करते है।

आदमी प्रयोग करना भूल गया, इसीलिए धर्म के द्वारा कोई परिवर्तन

नही हो रहा है। यही बात शिक्षा के क्षेत्र मे रही है। शिक्षा मे भी सैद्धांतिक पक्ष मजबूत है, पर प्रायोगिक बात नहीं है। सिद्धान्त और प्रयोग—दोनों अभिन्न है। इनको अलग नही किया जा सकता। जब आचार्यश्री जयपुर मे थे, तब राजस्थान के शिक्षामन्त्री श्री चन्दनमल जी वैद आए, बातचीत हुई और उन्होने घोषणा की कि नैतिक शिक्षा को अनिवार्य किया जाए। हमने कहा—नैतिक शिक्षा अनिवार्य की है, यह शुभ है। पर, नैतिक शिक्षा देने वाली दो-चार पुस्तके विद्यार्थी के पाठ्यक्रम मे जुड़ जाने मात्र से कुछ नहीं होगा। आज का विद्यार्थी ऐसे ही पुस्तको के भार से बोझिल है, फिर इन पुस्तको से और अधिक बोझिल हो जाएगा। इससे बहुत बडा परिणाम नहीं आ सकता। केवल नैतिक सिद्धान्त को पढा देने से कुछ लाभ नही है। विद्यार्थी को प्रयोग सिखाना चाहिए, जिससे कि वह अपना व्यक्तित्व रूपान्तरित कर सके।

प्रयोग की बात हमारे सामने बहुत स्पष्ट थी। बौद्धिक विकास के लिए जैसे कठस्थ किया जाता है, अभ्यास किया जाता है, वैसे ही व्यक्तित्व के विकास के लिए भी कुछ अभ्यास करना आवश्यक हो जाता है। विद्यार्थी को अन्तत समाज मे आना है, जीना है, उसे सामाजिक प्राणी बनना है। उसे समाज के साथ संगति बैठने के लिए, राष्ट्र के लिए प्रामाणिक व्यक्ति साबित होने के लिए, उसे इसी जीवन से अभ्यास करना होता है। विद्यार्थी-जीवन मे बालक अपने आपको विद्यार्थी मानकर चलता है। उसका कोई लक्ष्य नही होता। शिक्षा के क्षेत्र मे मंजिल नही होती। शिक्षा तो मार्ग है। मंजिल तो आखिर समाज है। वहां उसे रहना है। उसके साथ उसे संगति बिठानी है। ऐसा होने पर ही उसकी सार्थकता होगी। जहां समाज में हजारो लोग होते हैं, वहा सवेगो का सामंजस्य अत्यन्त आवश्यक होता है। तभी आदमी शांति-पूर्ण जीवन जी सकता है। जहां सवेगो का सामंजस्य नही होता, वहां जीवन दूभर बन जाता है। एक परिवार मे भी यदि सवेगों का सामजस्य नही होता है तो रोज लडाई, कलह होता रहता है। पति-पत्नी भी सुख से नही जी सकते। सुख से जीने के लिए उन्हे सवेगो पर नियन्त्रण पाना होता है।

कलह, सघर्ष, वैमनस्य आदि इसलिए होते है कि व्यक्ति अपने संवेगों पर नियन्त्रण नही रख पाता। ऐसी स्थिति मे पारिवारिक और सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है, सुखी नही रह सकता। सभा-सस्थाओं मे भी आपसी कलह चलते रहते है। एक-दूसरे के सवेगो को सहन करना लोग नही जानते। वे काट-छांट करना नही जानते। यह सारा संघर्ष सवेगो का संघर्ष है। मानसिक शान्ति और विश्वशांति की बात संवेगो के नियमन पर आधारित है। अतः हमे सोचना होगा कि शिक्षा के साथ जैसे बौद्धिक विकास की बात जुड़ी हुई है, वैसे ही उसके साथ सवेग-परिष्कार की बात जुड़े। ऐसा होने

पर ही वह शिक्षा अभ्यासात्मक या प्रयोगात्मक हो सकती है। तभी उसकी सार्थकता होगी।

जीवन-विज्ञान का यही आधार-बिन्दु है। इस बिन्दु पर शिक्षा प्रणाली का विकास होने पर शिक्षा का अभूतपूर्व अवदान हो सकता है।

संवेग-नियन्त्रण की पद्धति

मनुष्य मे मौलिक मनोवृत्तिया और सवेग होते है। सवेग जीवन को वहुत प्रभावित करते है। इसलिए उन पर अनुशासन करना विकासशील प्राणी के लिए बहुत आवश्यक है। विद्यार्थी के जीवन मे इसकी जटिल समस्या संक्रमण-काल मे आती है। जब दो अवस्थाओ का सधिकाल होता है तब एक खतरनाक मोड उपस्थित होता है। आठ-नौ वर्ष की अवस्था, ग्यारह-बारह वर्ष की अवस्था और सतरह-अठारह वर्ष की अवस्था—ये दो-तीन ऐसे मोड़ है जहा अत्यन्त सावधानी और सजगता की जरूरत रहती है। शिशु किशोर बनता है। उसकी मांसपेशिया शक्तिशाली बनती है। जब मासपेशिया शक्तिशाली बनती है तब शरीर मे शक्ति का प्रारम्भ होता है। यह किशोरावस्था की दहलीज है। इस पर पैर रखते ही कुछ शारीरिक परिवर्तन होते हैं, क्रियाए वदलती है। यौवन के बीज अकुरित होने लगते है और शरीर में उभार आता है। इस अवस्था में भय, क्रोध, मान, अपमान का बोध, सत्कार और तिरस्कार की अनुभूति—ये सारे संवेग प्रवल बनते है। यदि इस अवस्था के सवेगों को ठीक ढंग से सभाला जाए, उन्हे अनुशासित किया जाए तो जीवन की गाडी ठीक पटरी पर चल सकती है। अन्यथा गाड़ी पटरी से नीचे उतर जाती है।

ये सतुलित सवेग हमारे ग्र थतन्त्र और नाडीतन्त्र—दोनो को प्रभावित करते है। जब ये दोनो तन्त्र संतुलित रहते हैं तब जीवन का क्रम उचित ढंग से चलता है। इसमे विकार होते ही जीवन गडबड़ा जाता है। विकार का मूल कारण है—असंतुलित सवेग। ये विकारों को उत्पन्न करते है। एक बच्चा चिडचिडे स्वभाव का है, अन्यमनस्क है। इसका कारण क्या है? कारण है—असंतुलित संवेग। इसके फलस्वरूप वालक मे विचित्र प्रकार की जटिल आदते वन जाती है, कामुकता का उभार अधिक हो जाता है, वह अपराध में फस जाता है।

आज वाल-मनोविज्ञान पर काफी कार्य हुआ है। वाल अवस्था मे जो आदतें वनती हैं, उनके कारण भी खोजे गए हैं।

शिक्षा के क्षेत्र मे ध्यान देना वहुत जरूरी है कि वालक की आदतें जटिल न वने और वह विकारों मे न फसे। इसके लिए उसके सवेगो पर ध्यान देना आवश्यक है। जैसे अक्षर-बोध शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अग है वैसे ही जीवन के निर्माण का वोध भी शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

जैसे भाषा और तर्क का बोध शिक्षा का एक अनिवार्य अंग है वैसे ही जीवन के निर्माण का बोध भी शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। जैसे गणित का ज्ञान शिक्षा का एक अनिवार्य अग है वैसे ही जीवन-निर्माण का ज्ञान सिखाना भी शिक्षा का अनिवार्य अग है। अक्षर-बोध, गणित का ज्ञान, भाषा और तर्क का बोध—ये आजीविका चलाने के साधन है। ये जीवन के साध्य नही है। कभी-कभी आदमी साधन को प्रथम मान लेता है और मूल को भुला बैठता है। आदमी का सारा ध्यान साधन पर अटका रहता है। साधन जिसके लिए है, वह उपेक्षित रह जाता है। सब्जेक्ट आखो से ओझल हो जाता है और सारा ध्यान ऑब्जेक्ट पर अटका रह जाता है। एक मार्मिक घटना है।

एक सेठ के घर आग लग गई। पास-पडोस के लोग एकत्रित हुए और घर मे से सारा कीमती सामान बाहर निकालने लगे। सारा कीमती सामान बाहर निकाल लिया गया। सेठ प्रसन्न था। उसने सोचा, कोई बात नही, आग लगी तो लगी, पर कीमती सामान बचा लिया। सेठानी बाहर गई हुई थी। आग की बात सुनते ही वह दौडी-दौडी आई और उसने सेठ से पूछा आग कैसे लगी ? सेठ ने कहा आग के कारण का कोई पता नही है, पर हम सबने मिलकर घर का सारा कीमती सामान बचा लिया है। आभूषणो की पेटी आदि सब पदार्थ बाहर निकाल दिए है। सेठानी ने कहा—'अरे मेरा बच्चा कहा है ? मै उसको भीतर के कमरे मे सुलाकर गई थी।' सेठ बोला—'उसे तो निकालना ही भूल गए। उसकी याद नही रही।' सेठानी चिल्लाने लगी। सेठ को अपनी भूल का एहसास हुआ। सामान निकाल लिया, बच्चा जलकर मर गया।

भोग्य पदार्थ निकाल लिए गए और भोक्ता आग मे जलकर भस्म हो गया। भोग्य बचा, पर उसको भोगने वाला नही रहा।

क्या आज शिक्षा के क्षेत्र मे यह नही हो रहा है। हमारा ध्यान सब्जेक्ट, पर भोक्ता पर नही है। सारा ध्यान भोग्य पर, आब्जेक्ट पर केन्द्रित है, साधनो पर केन्द्रित है। यह एक दुर्व्यवस्था है। इसका प्रतिरोध या प्रतिकार बहुत आवश्यक है।

मैं यह नही कहता कि साधनो पर ध्यान नही जाना चाहिए। साधन जरूरी है। उन्हे टाला नही जा सकता। मुख्य बात यह है कि वे जिसके लिए है, वह उपेक्षित नही होना चाहिए।

सवेगो का परिष्कार इसलिए जरूरी है कि यदि बालक अपने विद्यार्थी जीवन मे असतुलित सवेग वाला बन गया तो वह समाज के लिए सिरदर्द बन जाएगा। हम नही चाहते कि विद्यार्थी समाज के लिए सिरदर्द बने। आज तो यह स्थिति है कि विद्यार्थी शिक्षा के क्षेत्र मे भी सिरदर्द बन जाता है, समाज बाद मे आता है। जो शिक्षाकाल मे सिरदर्द बन जाता है वह आगे

जाकर पूरा सिरदर्द बनेगा ही। इसलिए यह आवश्यक है कि शिक्षा के क्षेत्र मे विद्यार्थी के बौद्धिक विकास की तरफ जैसे ध्यान दिया जाता है वैसे ही उसके भावात्मक विकास की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। इसके लिए सवेग का परिष्कार करना बहुत आवश्यक है।

किशोर अवस्था के आते-आते शारीरिक उभार के साथ, अगो के विकास के साथ, कुछ प्रवृत्तिया अनायास बन जाती है। इसे नकारा नही जा सकता। शिक्षा के क्षेत्र मे शरीर-मनोविज्ञान की या जैविक रसायनो के अध्ययन की जो उपेक्षा हुई है उससे शिक्षा का प्रासाद पूरा बना नही, अधूरा ही रह गया। शिक्षा का उद्देश्य है—सर्वागीण विकास। सर्वागीण विकास मे केवल बौद्धिक विकास की बात पर्याप्त नही होती।

हम पारलौकिक मुक्ति की बात को एक बार छोड दे। यदि हम जीवन-मुक्ति की बात सोचे तो सर्वागीण विकास के लिए चार बाते आवश्यक होगी—

१ शारीरिक विकास
२ मानसिक विकास
३ बौद्धिक विकास
४ भावनात्मक विकास

आज के विद्यालयो मे बौद्धिक विकास पर्याप्त मात्रा मे कराया जाता है और शारीरिक विकास के लिए भी छुटपुट प्रयत्न चलते रहते है। ये दो प्रकार के विकास होते है, किन्तु मानसिक विकास और भावनात्मक विकास के लिए वहा बहुत कम सभावनाए रहती है। इन दोनो का विकास होना आवश्यक है। इनके विकास का मूल उपाय है—सवेगो का परिष्कार।

भय एक संवेग है। इसके कारक मनुष्य शारीरिक और मानसिक पीडाओ को भोगता है। यदि भय और चिन्ता का संवेग टलता है, खतरे की बात कम होती है तो बहुत सारी बीमारिया भी टल जाती है, मनो-कायिक (साइकोसोमेटिक) बीमारियो मे परिवर्तन आ जाता है।

प्रश्न है कि सवेगो का परिष्कार कैसे किया जाए? उसकी पद्धति क्या है?

पहली बात है—सैद्धान्तिक अर्थात् मूल्यबोध। जीवन-विज्ञान की पद्धति मे सोलह जीवन-मूल्यो का निर्धारण किया गया है। ये सोलह गुण है। इन्हे आज की भाषा मे मूल्य कहा जाता है।

विद्यार्थी के सामने कोई होता है तो वह उसके अनुसार प्रेरणा लेता है। सकल्प, तितिक्षा, सहिष्णुता, साहस, अभय—ये मूल्य है, आदर्श है। इन मूल्यो के आधार पर विद्यार्थी संकल्पना करता है, चिन्तन करता है। इसलिए सबसे पहली बात है विद्यार्थी के समक्ष एक आदर्श उपस्थित करना, आदर्श

की प्रतिमा को उपस्थित करना। उसके जीवन का किस प्रकार से निर्माण करना है उस प्रकार की प्रतिमा उसके सामने उपस्थित करना। यह सैद्धान्तिक पक्ष है। केवल सैद्धान्तिक पक्ष पर्याप्त नही माना जाता। ऐसा सभव नही है। उसके लिए प्रायोगिक विधि से उसे गुजरना होगा। प्रायोगिक पक्ष के विना वात अधूरी रह जाती है।

आदमी भय को छोडना चाहता है। भय, क्रोध आदि किसी को अच्छे नही लगते। बच्चा भी क्रोध करता है, पर वह जानता है कि क्रोध का परिणाम बुरा होता है। एक वच्चा मेरे पास आकर बोला—'मुझे गुस्सा वहुत आता है।' मैने कहा—'आता है तो आता है। इसमे क्या फर्क पडता है ?' वह बोला—'इससे झझट वढता है। माता-पिता को अच्छा नही लगता। लडाइया होती है।' बच्चा भी इन सव बातो को समझता है।

पर प्रश्न है कि क्रोध, भय आदि को कैसे मिटाए ? कैसे कम करे ? ज्ञान मात्र मे आचरण की दूरी नही मिटती। कथनी और करनी की दूरी वोध मात्र से नही मिटती। इसके लिए अभ्यास जरूरी है। अभ्यास के लिए ग्रन्थियो का जागरण वहुत जरूरी है, चैतन्य-केन्द्रो का जागरण बहुत महत्व-पूर्ण है। हमे वैज्ञानिक दृष्टि से और आध्यात्मिक दृष्टि से इन पहलुओ पर पर विचार करना होगा। आध्यात्मिक दृष्टि यह है कि जिस व्यक्ति का तृतीय नेत्र जागृत होता है, वह अपने भावो पर कन्ट्रोल कर सकता है। तीसरे नेत्र का उद्घाटन और हृदय परिवर्तन—ये दो माध्यम है सवेगो को परिष्कृत करने के लिए।

हम वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करे तो जिस व्यक्ति का पीनियल ग्लॉन्ड सक्रिय होता है, वह अपने सवेगो पर नियत्रण कर सकता है। अथवा हाइपोथेलेमस, जो भाव-सवेदना का केन्द्र है, उसको नियन्त्रित करने पर सवेगों पर नियत्रण स्थापित किया जा सकता है।

दोनो दृष्टिया—आध्यात्मिक और वैज्ञानिक—लगभग समान रेखा पर आ जाती है। परिवर्तन के वे ही स्थान आ जाते है।

हृदय परिवर्तन का अर्थ समझने मे इन शताब्दियो मे गडवड हुई है। हृदय का अर्थ रक्त का शोधन करने वाला या रक्त को फेकने वाला अवयव नही है। उसका क्या परिवर्तन किया जाय और उसके परिवर्तन से भाव परि-वर्तन कैसे हो जाए ? हमने इस पर बहुत विचार और मनन किया। हृदय परिवर्तन मे हृदय का अर्थ है मस्तिष्क का वह भाग जिसे हम 'हाइपोथेलेमस' कहते है। एक हृदय है धडकने वाला जो फेफडो के पास है। एक हृदय है मस्तिष्क मे। हमे उसमे परिवर्तन लाना है। यही है हृदय परिवर्तन का रहस्य। मस्तिष्क का जो 'फ्रन्टल लॉब' है, जिसे हम योग की भाषा मे शान्तिकेन्द्र कहते है, वह हमारे भावो और सवेगो के लिए जिम्मेवार है।

यही है ललाट का भाग। जब कभी मन मे विनम्रता का भाव जागृत होता है, ललाट झुक जाता है। यह प्रतीक है हृदय परिवर्तन का। इस केन्द्र को जागृत करना है, इसमे परिष्कार लाना है।

दूसरा है पीनियल ग्लॉन्ड मे परिष्कार लाना। यह ज्योति-केन्द्र का स्थान है। शान्तिकेन्द्र-प्रेक्षा और ज्योतिकेन्द्र-प्रेक्षा—ये दो प्रयोग है भाव परिष्कार या सवेग परिष्कार के। इनसे सवेगो को अनुशासित किया जा सकता है। यदि विद्यार्थी को, दस-बारह वर्ष की अवस्था से ही ये प्रयोग कराए जाए तो उसमे सवेग सतुलन होगे और वह पारिवारिक और सामाजिक जीवन अच्छे ढग से जी सकेगा। वह न अति कामुक और न अति चिडचिडा होगा। उसमे न उदासी होगी और न वह अन्यमनस्कता का शिकार ही होगा।

आज जेनेटिक इन्जीनियरिंग मे यह चर्चा चल रही है कि कुछ दशको के बाद यह स्थिति बन सकती है कि माता-पिता जैसा लडका चाहेगे वैसे लडके का जीन उन्हे लेबोरेटरी से मिल जाएगा। वकील, डॉक्टर, दार्शनिक आदि की जीन वे खरीद सकेगे और उन्ही के अनुरूप बच्चा प्राप्त कर सकेगे। यह कब सभव होगा, ऐसा निश्चित नही कहा जा सकता पर जीन के क्षेत्र मे काम करने वाले वैज्ञानिको का यह अभ्युपगम है, कन्सेप्ट है और वे इसे सत्य करने मे जुटे हुए है।

आज हम यह कह सकते है कि विद्यार्थी को बचपन से ही यदि सवेग-परिष्कार का अभ्यास कराया जाए तो माता-पिता की इच्छा को शिक्षक पूरा कर सकेगा। उन्हे एक अच्छा और सुसंस्कृत लड़का मिल जाएगा। यह कोरी कल्पना नही है, वैज्ञानिक बात है। आध्यात्मिक और वैज्ञानिक—इन दोनो दृष्टियो से यह प्रमाणित हो चुका है कि आदमी की आदतो को बदला जा सकता है। इसमे सदेह के लिए कोई स्थान ही नही है। सदेह अज्ञान के कारण होता है। कभी-कभी आदमी इतना अज्ञान मे होता है कि सचाई को नही समझ पाता।

दो मित्र नदी पर घूमने गए। उनके मन मे नौका-विहार की भावना उठी। उन्होने एक नौका किराए पर ली और बिना मल्लाह के नौका को लेकर चल पडे। हलका सा तूफान आया और नौका डगमगाने लगी। उसके डूबने की नौबत आ गई। एक ने कहा—'अरे! नौका तो डूब रही है। दूसरा बोला—चिन्ता की क्या बात है। यह नौका अपनी तो है नही, किराए की है। डूबे तो भले ही डूबे।'

नौका किराए की हो सकती है पर डूबने वाले तो किराए के नही है? अज्ञान के कारण वे सचाई को नही पकड़ पाते।

सवेग-परिष्कार के दोनो प्रयोग इस दिशा मे अचूक प्रयोग है। इनके

अभ्यास के अनेक क्रोधी और व्यसनी व्यक्तियो ने अपने सवेगो से छुटकारा पाया है। अनेक मद्यपायी और अन्यान्य मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले व्यक्ति अपनी आदतो को छोडकर सुख से जीवन यापन कर रहे है। भय की समस्याओ से त्रस्त व्यक्ति इन प्रयोगो से भयमुक्त होकर आज अभय का जीवन जी रहे है।

जब संवेग परिष्कृत होते है, तब नाडीतत्र और ग्रन्थितत्र का सतुलन बना रहता है। सामान्यत. हमारा यह विश्वास है कि सतुलित भोजन होता है तो जीवन अच्छा चलता है, शक्ति सही ढंग से काम करती है। यह गलत बात तो नही है, किन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सतुलित भोजन होने पर भी यदि पाचनतत्र सतुलित नही है तो भोजन अपना काम नही करेगा। जिसका पाचन ठीक नही, वह कितना ही अच्छा खाता है, वह सारा व्यर्थ चला जाता है। प्रश्न होता है कि पाचनतन्त्र को ठीक करना पहली बात है या सतुलित भोजन करना पहली बात है? पहली बात है—पाचनतत्र को स्वस्थ बनाना। दूसरी बात है—सतुलित भोजन करना। ऐसे ही क्या ग्रन्थि तन्त्र को स्वस्थ रखना पहली बात है या सतुलित भोजन करना पहली बात है? पहली बात है—ग्रन्थितत्र को ठीक रखना। दूसरी बात है – सतुलित भोजन करना। यदि ग्रथितन्त्र सतुलित रहेगा, पैन्क्रियाज ठीक है तो चयापचय की क्रिया ठीक चलेगी, सारी क्रियाए ठीक चलेगी। यदि गोनाड्स अनुशासित और सतुलित है तो कामुकता नही सताएगी।

जब शान्तिकेन्द्र सक्रिय होता है तो मनोबल बढता है, घटता नही। वह व्यक्ति हर बात को सहन कर लेता है। उसमे सहने की शक्ति विकसित होती है। अन्यथा सुरूप और सुन्दर दीखने वाले व्यक्ति भी सामान्य परिस्थिति के समक्ष घुटने टेक देते है। शरीर से शक्तिशाली होने पर भी उनका मन कमजोर होता है। मनोबल उसका बढता है जिसका ग्रथितन्त्र सतुलित होता है। महात्मागांधी का शरीर हड्डियो का ढाचा मात्र था। पर उनका मनोबल इतना मजबूत था कि ब्रिटिश सरकार की सत्ता हिल उठी। उनकी यातनाए गाधी को विचलित नही कर सकी। इसका कारण यह है कि जिसका ग्रथितन्त्र और नाडीतन्त्र शक्तिशाली होता है, वह व्यक्ति महान् होता है, कुछ करने वाला होता है। मास, हड्डियां, चमडी आदि का सीमित उपयोग है। ये सहायक फेक्टर है। मूल तत्त्व है नाड़ीतन्त्र और ग्रन्थितत्र की सुरक्षा, व्यक्तित्व का निर्माण, अन्त प्रज्ञा का निर्माण। इन सबका विकास होता है नाडितत्र और ग्रथितंत्र की सतुलित अवस्था और निर्मलता के कारण। हमारा ध्यान इनकी ओर केन्द्रित होना चाहिए।

सवेग-परिष्कार के इन दो प्रयोगो के साथ तीसरा प्रयोग है—रंगो का ध्यान। अनुप्रेक्षाओ के साथ अनेक रंगो का ध्यान किया जाता है। रग संवेगों

के परिष्कार मे बहुत सहायक होते है।

एक विद्यार्थी अत्यन्त चंचल है। कही टिक नही पाता। उसे नीले रंग का ध्यान कराएं। एक सप्ताह के बाद उसमे परिवर्तन आने लगेगा। रूस मे इस विषय पर अनुसंधान और प्रयोग किये गये। एक विद्यालय के विद्यार्थी बहुत उद्दंड और चंचल थे। अधिकारियो ने वैज्ञानिक दृष्टि से सब बातो पर ध्यान दिया। उन्होने वैज्ञानिको को आमंत्रित किया। वे आए। उन्होने देखकर कहा—इस मकान की खिडकियों, दरवाजो, कुर्सियो तथा फर्श पर बिछी कालीनो का रग गहरा लाल है। यह लाल रंग विद्यार्थियो मे उद्दडता, आवेश और चंचलता पैदा कर रहा है। इस समस्या का यही समाधान है कि लाल रग को बदला जाए और उसके स्थान पर गुलाबी रंग कर दिया जाए। विद्यालय के अधिकारियो ने वैसा ही किया। खिडकियो, दरवाजों आदि को गुलावी रंग से रंग दिया। कुछ ही समय पश्चात् विद्यार्थियों में परिवर्तन आने लगा। उनकी उद्दंडता और चचलता कम हो गई।

रंग बहुत प्रभावित करते है। यह निष्कर्ष निकाला गया कि यदि स्त्री को अच्छे मूड मे रखना हो तो उसे गुलावी रंग के वातावरण मे रखा जाए। उसका मूड नही विगडेगा। बच्चों पर गुलावी रंग का प्रभाव पडता है।

नीले, पीले और गुलावी रग का ध्यान सवेगो पर प्रभाव डालता है, उनका परिष्कार करता है। एक आस्था उत्पन्न करने की आवश्यकता है। एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के निर्माण की जरूरत है। यदि हम इस बात को स्थूल दृष्टि से पकडेगे कि गुलावी रंग को देखने से क्या होगा? कैसे दिखेगा गुलावी रग? पर यदि वैज्ञानिक दृष्टि से सोचेगे तो हम अपने संकल्प के द्वारा वैसा रंग पैदा कर सकते है। रग के परमाणु चारों ओर विखरे पडे है। जहां प्रकाश है, सूर्य की रश्मियां है, वहां चारों ओर रग ही रग है। पेड़-पौधो में रंग कहा से होता है? अंधेरे मे हमें कुछ भी दिखाई नही देता। सूर्य की रश्मियां आते ही रग दीखने लग जाते है। रग कहां से आए? रंग सर्वत्र है। पीनियल ग्लाण्ड प्रकाश-संश्लेषी है। वह रंगो को पकड़ता है। वह प्रकाश में अधिक काम करता है। वह प्रकाश को ग्रहण करता है अर्थात् रंग को ग्रहण करता है। उससे हम अत्यधिक प्रभावित होते है। लाल रंग के कमरे मे एक सप्ताह रह कर देखें, आप सिरदर्द से पीडित हो जाएंगे। सफेद रंग में ऐसा नही होता। काले रग से जटिलताएं और वढ जाती है। हमारे मे रगो को पकडने की शक्ति है, क्षमता है। रग संवेगों को उद्दिप्त करते है और शांत भी करते है। रगो मे उद्दीपन और शामक—दोनों शक्तियां है। सवेग परिष्कार मे रंग की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

चौथा प्रयोग है—दृष्टिकोण का विधायक होना। निषेधात्मक दृष्टिकोण से सवेग उद्दिप्त होते हैं। हम विद्यार्थियों में इस प्रकृति को अभिव्यक्त

करने का प्रयत्न करे कि उनमें रचनात्मक या विधेयात्मक दृष्टि का जागरण हो। उनकी निषेधक दृष्टि कमजोर हो और विधायक दृष्टि बलवान् बने।

एक संन्यासी था। कोई घटना घटी और वह बेचैन हो गया, उदास हो गया, अशांत हो गया। उसने देखा मार्ग मे एक भिखारी बैठा है। वह लंगडा है, एक हाथ से विकल है, फिर भी वह परम प्रसन्न है, शांत है। संन्यासी ने सोचा, मुझे सब कुछ उपलब्ध है, फिर भी मैं अशांत हू, बेचैन हूं और यह भिखारी शरीर से विकल होने पर भी प्रसन्न है, इसका कारण क्या है? वह भिखारी के पास गया और प्रसन्नता का गुर पूछा। भिखारी बोला—प्रसन्नता मेरा गुण है, मेरी आदत है। मेरे हाथ-पैर नही है, यह सच है। पर मैं कभी अभाव की ओर ध्यान नही देता, मैं सदा भाव को ही देखता हूं। मैं सोचता हू, हाथ-पैर नही है तो क्या, मुझे सुन्दर मस्तिष्क तो मिला है। मुझे सोचने का कितना सुन्दर ढग मिला है। यह सब सोचकर मैं सदा प्रसन्न रहता हूं। मेरे आखे हैं। मै सब कुछ देख सकता हू। भिखारी की बात सुनकर संन्यासी अवाक् रह गया। उसका सिर झुक गया।

जो अभाव की ओर देखता है, वह निषेधात्मक भावो से भर जाता है। उसे कितना ही मिल जाए उसका नेगेटिव एटीट्यूड कभी नही मिटेगा। जिसका एटीट्यूड पोजिटिव हो गया, भावात्मक हो गया, वह व्यक्ति बदल जाएगा।

एक सन्यासी को किसी ने गाली दी। वह शांत रहा। किसी ने पूछा—महात्माजी! उसने आपको गाली दी, आपको दुख नही हुआ? संन्यासी बोला—मुझे दुःख क्यो होता? उसने गाली ही तो दी, पीटा तो नही। कोई पीट देगा तो सोचूगा, उसने मुझे पीटा ही पर मारा तो नही। कोई मुझे मार देगा, तो मैं सोचूगा, उसने मेरे प्राण ही लिए, पर धर्म तो नही लिया।

ऐसे व्यक्ति को क्या कहा जाए? कोई भी उसे दुखी बना नही सकता। यह विधायक दृष्टि का परिणाम है। इसके द्वारा संवेगो का सतुलन साधा जा सकता है। जब सवेग संतुलित होते है तब चरित्र का विकास होता है, जीवन का निर्माण होता है।

जिस जीवन और समाज की कल्पना की जा रही है, इक्कीसवी शताब्दी के आदमी की कल्पना की जा रही है, वह आदमी शक्तिशाली तो होगा पर वह निराशा और निषेधात्मक भावो मे घिरा रहेगा। अब प्रश्न यह है कि मूल आदमी को शक्तिशाली बनाना है या यत्र-मनुष्य—रोबट को शक्तिशाली बनाना है?

जापान मे एक ऐसे रोबट का निर्माण किया है जो मूल आदमी से भी ज्यादा आगे बढा हुआ है। उसमे होगा क्या? बडी-बडी मशीनो ने हाथ-

करघों तथा हस्तशिल्प को मिटा डाला। अब वैज्ञानिक मूल आदमी को ही मिटाने में लगा है। यदि रोबट शक्तिशाली बनेगा तो मनुष्य कमजोर ही बनेगा। आज बौद्धिक व्यक्ति को यह चिंतन करना है कि रोबट भले ही बने पर मूल आदमी कमजोर न रहे। इस प्रश्न पर सबको चिंतन करना है। इस प्रक्रिया में संवेग-नियन्त्रण और संवेद-परिष्कार की बात बहुत महत्त्वपूर्ण है।

सवेद-नियंत्रण की पद्धति

मनुष्य सब प्राणियो मे श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है। उसकी श्रेष्ठता का कारण है उसका मस्तिष्क और मेरुदण्ड प्रणाली—स्पाइनल कार्ड सिस्टम। यह उसकी अपनी विशेषता है। इस जैसा विकसित मस्तिष्क, नाडीतत्र और मेरुदण्ड प्रणाली अन्य किसी प्राणी को प्राप्त नही है। यही कारण है कि वह प्रगति कर सकता है और सफलता के मार्ग पर आगे बढ़ सकता है। यदि आदमी मस्तिष्क की शक्ति का अपव्यय रोक देता है तो वह अपने जीवन मे वहुत सफल हो सकता है। सवेदनाओ के कारण शक्ति का अपव्यय बहुत होता है। जव मस्तिष्क इन्द्रियो के साथ चलता है तब शक्तियां क्षीण होती है। जव मस्तिष्क इन्द्रियो से परे होता है तब शक्ति का अपव्यय रुक जाता है। आखे खुली है। आदमी इधर-उधर देख रहा है। वह नही जानता कि मस्तिष्क को कितना काम करना पडता है। उससे शक्तियां क्षीण होती हैं। आज का शरीरशास्त्री और मानसशास्त्री जनता है कि आख से देखने मे तत्र को कितना प्रयत्न करना पड़ता है। पूरा तत्र सक्रिय हो जाता है। उसे शक्तिया जगानी पड़ती है। निरन्तर क्रियाशीलता शक्ति का अपव्यय करती है। आदमी निरतर सक्रिय रहता है। सामने कोई चीज आई, आदमी देखने लग जाता है। कुछ आवाज आई, वह सुनने लग जाता है। नाक, कान, आंख, जीभ और त्वचा—ये सारे इतने सक्रिय रहते है कि कभी विश्राम लेते ही नही। कभी एक सवेद आता है, कभी दूसरा। कभी कोई सवेद उभरता है, कभी कोई सवेद उभरता है, सक्रियता वनी रहती है। यह ध्रुव सिद्धात है कि जहा क्रिया है, वहा शक्ति का व्यय है। जहां अक्रिया है वहा शक्ति का संरक्षण है। हम अतिक्रिया के कारण शक्ति का सही उपयोगी नही कर पाते। जो अपनी शक्ति का आवश्यक कार्यो के लिए उपयोग करना चाहता है, आगे वढना चाहता है, उसे सवेदो पर नियन्त्रण करना जरूरी है।

एक सन्यासी या तपस्वी के लिए सवेद-नियंत्रण करना आवश्यक कार्य है। उसे इन्द्रिय-सयम भी करना चाहिए। किन्तु न केवल सन्यासी को, जीवन मे सफलता चाहने वाले सभी व्यक्तियो को, एक सीमा तक, सवेदनाओ पर नियन्त्रण करना चाहिए। जव इंद्रिय-संवेदनाओं पर नियन्त्रण नही होता तव वहुत सारे वुरे परिणाम आते है। जीभ की सवेदनाओ पर नियन्त्रण न करने से अनेक वीमारिया होती हैं। लगभग पचास प्रतिशत वीमारिया जीभ की सवेदनाओ के कारण होती हैं। आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति मे भी यह

वात पहले से ही मान्य थी, आज एलोपैथिक चिकित्सा-पद्धति मे भी यह स्वीकृत हो गई है। हार्ट ट्रबल या ऐसी अन्य वीमारियो पर डॉक्टर सबसे पहले खाद्य पदार्थों पर प्रतिवन्ध लगाता है। वह कहता है—चिकनाई मत खाओ, घी मत खाओ, नशीली वस्तुओ का सेवन मत करो। वीमारी के साथ भोजन का गहरा संवंध है। भोजन का मानसिक शक्ति के साथ गहरा संवध है।

दृष्टि का सवेदन है देखना। यह भी एक समझने की वात है कि कव देखना चाहिए? क्या देखना चाहिए? आख के द्वारा पदार्थ के साथ हमारा सम्पर्क स्थापित होता है। हम केवल देखते ही नही, ग्रहण भी करते है। दृष्टि का सवेदन भावो को वहुत प्रभावित करता है। 'जो देखने योग्य नही है, उसे नही देखना चाहिए'—यह भारतीय चिन्तन की परम्परा रही है। कहा है—दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्—'आंखो से देखकर चलो। यदि आदमी आखो से देखकर चलता है तो शक्तियां कम क्षीण होती है। यदि चलते समय कभी इधर और कभी उधर देखते है, दूर तक देखते है तो मस्तिष्क की वहुत शक्ति क्षीण होती है। देखने का नियम है कि सीधे देखो, दाएं-वाए देखना उचित नही है। सीधे वैठकर पानी पीना चाहिए। टेढ़े-मेढे देखते हुए पानी पीने से शक्ति क्षीण होती है, प्राणधारा का प्रवाह वदल जाता है। जो व्यक्ति आगे वढना चाहता है, उसे अपनी सवेदनाओ पर नियंत्रण करना होगा।

पिता ने तीनों पुत्रो को वुलाकर कहा—मैं प्रत्येक को हजार-हजार रुपये दे रहा हू। तीन वर्षो तक तुम इनका उपयोग करना, फिर मुझे ये रुपये लौटा देना। तीनों ने स्वीकृति दी और रुपये लेकर चले गये। जो सवसे छोटा पुत्र था, वह सयमी था। उसने अपनी सवेदनाओ को नियन्त्रित कर लिया था। उसने व्यवसाय प्रारम्भ किया। सयम से रहने लगा। उसका व्यवसाय दिन-प्रतिदिन विकसित होता गया। दूसरा पुत्र उतना संयमी नही था। उसने सोचा, खाने को रोटी चाहिए। रोटी मिल रही है, कौन व्यवसाय का झझट करे। उसने रुपये व्याज पर दे दिये। जो व्याज मिलता उससे गुजारा कर लेता। सवसे वड़ा पुत्र संवेदनाओ का दास था। वह वहा गया, जहां संवेदनाओ की पूर्ति होती है। खूब मोज-शौक करने लगा। हजार रुपये खर्च हो गए। उसके पास अव एक भी पैसा नही रहा। वह दर-दर का भिखारी बन गया। वह पेट भरने के लिए जंगल मे जाता, लकड़ियो का भारा ले आता और जो कुछ पाच-दस पैसे मिलते, उससे गुजारा करता।

तीन वर्ष पूरे हुए। तीनो पिता के पास गए। पिता ने कहा—लाओ, अपनी मूल पूजी वापस करो। वड़ा पुत्र वोला—'पिताजी! मैं इन्द्रियो का दास वन गया था। इन्द्रिय-विषयो की पूर्ति मे मैंने सारा धन गंवा दिया। मेरे पास कुछ नही वचा। केवल शरीर वचा है और वह भी जर्जर। दूसरे

पुत्र ने मूल पूजी पिताजी को लौटाते समय कहा—'पिताजी ! यह मूलपूजी मैंने सुरक्षित रखली थी। इसके ब्याज से जो प्राप्त होता, उससे जीवन-यापन करता रहा।' तीसरे पुत्र ने कहा—'पिताजी ! मूल पूजी सौ गुना बढ गई है। स्थान-स्थान पर मेरा व्यवसाय चल रहा है। ये रहे बही-खाते।'

पहले लडके ने मूल पूजी खो डाली। दूसरे ने मूल पूजी सुरक्षित रख ली और तीसरे ने मूल पूजी को बहुत बढा लिया।

जिस व्यक्ति का अपनी सवेदनाओ पर नियंत्रण होता है वह बहुत आगे बढ़ जाता है। जिसमे नियन्त्रण की पूरी क्षमता नही होती, एक सीमा तक होती है, वह मूल स्थिति मे कायम रह जाता है। जो सवेदनाओ का दास बन जाता है, वह अपने जीवन की दुर्गति कर बैठता है। उसका अध.पतन होता है। हम इस सचाई का अनुभव करे कि संवेदनाओ पर नियंत्रण किए बिना जीवन मे विकास नही किया जा सकता। यदि इस स्थिति का साक्षात्कार करना हो तो पश्चिमी जगत् की यात्रा करे। वहां एक नया दर्शन मिलेगा। वहा इतना बौद्धिक विकास, वैज्ञानिक दृष्टि का विकास और धन तथा सुख-सुविधा की सामग्री होने पर भी, इन्द्रियो की उच्छृखलता के कारण वहा की स्थिति अत्यन्त दु.खद और पीडाकारक है। अमेरिका जैसे राष्ट्र मे अनेक नगरो की यह स्थिति है कि नागरिक घर से निकलता है और साय यदि सकुशल लौट जाता है तो वह उस दिन को लाख-लाख धन्यवाद देता है। पता नही, कब उसे गोली लग जाए। यह आवश्यक नही है कि झगडा होने पर गोली चले। कोई झगडा नही, कोई द्वेष नही, अकारण ही गोली चली और आदमी मर गया। ऐसा पागलपन आज छा गया है कि कोई भी, कभी भी, किसी की हत्या कर डालता है। यह पागलपन आता है सवेदनाओं के अनियन्त्रण से।

प्रश्न होता है कि सवेदनाओ पर नियंत्रण कैसे करे? आदमी सवेदनाओ के साथ चलता है, जीता है। ऐसी स्थिति मे संवेदनाओ पर नियत्रण करना सरल बात नही है। इन्द्रिय-सवेदनाओ से परे होकर जीना साधु-सन्यासियो के लिए तो साध्य हो जाता है, पर विद्यार्थी ऐसा कर सके, बहुत कठिन बात है। आज का बच्चा प्रारम्भ से ही इन्द्रिय-सवेदनाओ के साथ जीता है। विद्यार्थी स्कूल से निकलता है तो सीधा ध्यान जाता है सिनेमा घरो पर। घर आता है तो ध्यान जाता है टी० वी० पर। कभी क्रिकेट की कोमेन्ट्री सुनता है और कभी फिल्मी गाने। उसका पूरा दिन इन्द्रिय की सवेदनाओ के सहारे बीतता है। धीरे-धीरे वह उसकी प्रकृति बन जाती है। वह परिणाम को नहीं जानता, विपाक को नहीं जानता। किंपाक का फल दीखने मे सुन्दर होता है। उसका रग-रूप मनोहारी होता है। पर उसको खाने का परिणाम होता है मृत्यु। इन्द्रिय-सवेदनाओ की भी यही

स्थिति है। ये सवेदनाए प्रवृत्तिकाल मे सुखद लगती है, पर उनका परिणाम कटु होता है। कुछ कार्य ऐसे होते है जो प्रवृत्ति-काल मे अच्छे लगते है, पर उनका परिणाम-काल दुःखद होता है। कुछ कार्य प्रवृत्ति-काल मे बुरे होते है पर उनका परिणाम सुखद होता है। भारतीय-दर्शन मे वही प्रवृत्ति अच्छी मानी जाती है जिसका परिणाम कल्याणकारी होता है।

इन्द्रिय-सवेदनाओ का परिणाम कभी अच्छा नही होता। बच्चा इस तथ्य को नही जानता, अत माता-पिता और शिक्षक को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि उसे यह भान हो सके कि इन्द्रिय-सयम जीवन-विकास के लिए आवश्यक है। बालक की अवस्था परानुशासन की अवस्था है, आत्मानुशासन की अवस्था नही है। बालक जब किशोर बन जाए तब उसे परिणाम-बोध देना अत्यन्त जरूरी है। सवेदनाओ पर नियत्रण पाने का उपाय है परिणाम-बोध। यानी बच्चो को विपाक का बोध कराना, प्रवृत्ति का परिणाम क्या होगा, इसकी अवगति देना बहुत जरूरी है। यह पहला उपाय है—संवेदन-नियत्रण का।

सवेदन-नियत्रण का दूसरा उपाय है—श्वास-नियत्रण। यही दीर्घश्वास की प्रक्रिया है। श्वास-नियंत्रण का अर्थ है—पूरा गहरा श्वास, दीर्घश्वास। यह एक विद्यार्थी के लिए बहुत जरूरी है, क्योकि उसके मस्तिष्क के लिए आक्सीजन की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। शिक्षा का संबंध है मस्तिष्क के साथ, ज्ञान-ग्रहण का सबध है मस्तिष्क के साथ। पूरे शरीर को जितना आक्सीजन चाहिए उससे तिगुना आक्सीजन मस्तिष्क को चाहिए। उसकी पूर्ति दीर्घश्वास के द्वारा होती है। उस स्थिति मे मस्तिष्क काफी सक्रिय हो जाएगा। वह तीव्र विकास कर पाएगा। उसकी क्षमता का विकास होगा। यदि आक्सीजन पर्याप्त मात्रा मे नही मिलेगा तो मस्तिष्क सुचारु-रूप से काम नही कर पाएगा। विद्यार्थी मे आलस्य और प्रमाद बढेगा, उसका मन पढाई मे नही लगेगा। वह एकाग्र नही हो पाएगा। सारी गडबडियां पैदा होने लगेगी। ज्ञान-ग्रहण की शक्ति क्षीण होने लगेगी। इसलिए विद्यार्थी के लिए दीर्घश्वास का प्रयोग बहुत लाभप्रद है। दीर्घश्वास भी लयबद्ध होना चाहिए। लयबद्ध श्वास को दो भाषाओ मे समझा गया है—

१ जितना समय श्वास लेने मे लगे, उतना ही समय श्वास छोडने मे लगे। प्रत्येक बार यही क्रम चले।

२ श्वास लेने मे कम समय और श्वास छोडने मे अधिक समय लगे। जैसे श्वास लेने मे आठ मात्रा का समय लगता है तो छोडने मे बारह मात्रा का समय लगना चाहिए, जिससे कि कार्बन पूरी मात्रा मे निकल जाए। जब कार्बन पूरी मात्रा मे निकल जाता है, तब न बेचैनी सताती है और न जम्हाई।

इस प्रकार लयबद्ध श्वास मे दो बातें समानरूप से होगी, चाहे तो श्वास लेने, निकालने मे बराबर समय लगे या निकालमे मे ज्यादा समय लगे। इसका लाभ जान लेना भी आवश्यक है।

बच्चा जब १३-१४ वर्ष की अवस्था का होता है तब उसकी थाइमस और पिनियल– ये दोनो ग्रन्थियां निष्क्रिय हो जाती है। थाइमस ग्रन्थि के निष्क्रिय होने का परिणाम है कि उसमे सहनशक्ति, चुस्ती, प्रसन्नता, आनन्द आदि का अभाव हो जाता है। पिनियल ग्रन्थि जब निष्क्रिय हो जाती है तब नियन्त्रण की शक्ति कम हो जाती है। दीर्घश्वास के प्रयोग से बालक अनेक चीजो से बच जाता है। १३-१४ वर्ष की अवस्था मे यौन सक्रियता बढनी शुरू हो जाती है और पिनियल निष्क्रिय होती है तो उसकी नियन्त्रण की शक्ति कम होती है और तब बालक अनेक बुराइयो का शिकार हो जाता है। यह वैज्ञानिक दृष्टि की बात है। अब हम इस पर योगदृष्टि से विचार करे। कामवृत्ति का केन्द्र है—नाभि से गुदा तक का स्थान, उपस्थ का स्थान। यह अपान का स्थान है। जब अपान पर प्राण का नियन्त्रण रहता है तब वृत्तिया शांत रहती है। जब अपान पर प्राण का नियन्त्रण कम हो जाता है तब अधोगामी वृत्तिया सक्रिय होने लगती है।

यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से देखे तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि विज्ञान की भी वही निष्पत्ति है और योग की भी वही निष्पत्ति है। दोनो की निष्पत्ति एक है।

दीर्घश्वास से अपान पर नियन्त्रण साधा जाता है। यदि विद्यार्थी को इसका ठीक अभ्यास करा दिया जाता है तो वह प्रारम्भ से ही बुरी आदतो मे नही फसेगा। वह बुराइयो से बच जाएगा।

अनेक व्यक्ति पूछते है कि बुरे विचार बहुत आते हैं, उन्हे रोकने का क्या कोई उपाय है ?

हम सीधा-सा उपाय बताते है कि दस मिनिट तक दीर्घश्वास का प्रयोग करे। एक मिनिट मे दो श्वास ले। समस्या हल हो जाएगी। केवल विद्यार्थी ही नही, कोई भी इस प्रयोग से लाभ उठा सकता है। जब-जब बुरे विचार, निम्न वृत्तिया, वासनाए आक्रमण करती है तब दीर्घश्वास का प्रयोग करने मे इनको रोका जा सकता है। दीर्घश्वास इसका प्रतिरोधक है।

सवेदन-नियन्त्रण के लिए भी दीर्घश्वास बहुत आवश्यक है। आप यह न सोचें कि सवेदन-नियन्त्रण से आपकी गृहस्थी मे अन्तर आ जाएगा। आप चिता न करे बाधा नही आएगी। किंतु इद्रियों की उच्छृखलता के कारण जो समस्याए आती है, उनसे बचा जा सकेगा।

सवेदन-नियन्त्रण का एक उपाय है—प्राणकेन्द्र पर ध्यान करना, यानी नासाग्र पर ध्यान करना। नाक का वासनाओ के साथ गहरा सबध है। कान

का और नाक का विकारो के साथ संबन्ध है। मस्तिष्क का एक भाग है—एनिमल ब्रेन। इसी के कारण मनुष्य मे पाशविक वृत्तियां उभरती है। उसका संबन्ध नाक और इंद्रियों के साथ है। प्राचीन आचार्यो ने इसका अनुभव किया और इस पर विजय पाने के लिए उन्होने नासाग्र पर ध्यान करने की बात कही। भगवान् महावीर की ध्यानमुद्रा मे दोनों आंखे नाक पर टिकी देखी जाती है।

हम किसी भी दृष्टि से सोचें—चाहे बौद्धिक विकास के लिए, चाहे भावनात्मक विकास के लिए, चाहे जीविका की सफलता के लिए या सह-अस्तित्व की सफलता के लिए, हमें सवेदो पर नियत्रण करना होगा। यह एक उपाय है। अनुपाय कुछ भी नही है जिसके पास उपाय नही है, वह हजार प्रयत्न करने पर भी सफल नही हो सकता। जिसके पास उपाय है, वह थोड़े समय मे ही सफलता की मंजिल तक पहुच जाता है। इसलिए उपाय को खोजे, अपनाएं और मजिल तक पहुंचे। सवेदों पर नियंत्रण पाने का मार्ग सबके लिए कल्याणकारी है। यदि प्रारम्भ से ही विद्यार्थी को उपाय और परिणाम-बोध से परिचित करा दिया जाए तो न केवल विद्यार्थी-जीवन अच्छा होगा, परन्तु उसका पूरा सामाजिक जीवन भी अच्छा होगा। इस प्रकार हम नई समाज-व्यवस्था मे विद्यार्थी को एक घटक के रूप में प्रस्तुत कर सकते है, नया मार्ग और नई दिशा उसके सामने रख सकते है।

मूल्यपरक शिक्षा : सिद्धान्त और प्रयोग

हमारे दो जगत् है। एक है भीतर का जगत् और दूसरा है बाहर का जगत्। भीतर का जगत् बहुत सूक्ष्म है और बाहर का जगत् स्थूल है। बाहर के जगत् से व्यवहार को नापा जा सकता है, देखा जा सकता है। भाव होता है वैसा व्यवहार होता है। भाव का जगत् सूक्ष्म है। उसे पकडना बहुत कठिन है। जैसा स्राव होता है वैसा भाव होता है, वैसा ही व्यवहार होता है। आन्तरिक प्रेरणा है भाव और उससे निरपेक्ष होकर व्यवहार करते है तो भाव और व्यवहार की सवादिता नही होती। हमे व्यवहार को बदलना है। विद्यार्थी के व्यवहार मे परिवर्तन लाने के लिए ही इस मूल्यपरक शिक्षा की जरूरत है। कुछ समय पूर्व यह नैतिक शिक्षा के नाम से जानी जाती थी। आज नैतिक शिक्षा मूल्यपरक शिक्षा पर विकसित और प्रतिष्ठित हो गई।

जीवन मे मूल्यो का अवतरण हो, शिक्षा के साथ मूल्यो का बोध हो तथा विद्यार्थी के जीवन मे मूल्यो की प्रतिष्ठा हो, यह वर्तमान की शिक्षा के साथ सुचिंतित विचार चल रहा है। कुछ समय पूर्व राजस्थान विश्वविद्यालय मे कुलपतियो की एक बैठक हुई थी। उसमे ६०-८० कुलपति सम्मिलित हुए थे। और उन्होने मूल्यपरक शिक्षा पर काफी विचार-विमर्श किया। सब चाहते है कि विद्यार्थी के जीवन मे मूल्यो की प्रतिष्ठा हो।

सत्य का मूल्य है। इसके दो पहलू है—भावात्मक और व्यवहारात्मक। सिद्धात का ज्ञान कराया जाता है, किंतु परिवर्तन की बात बहुत कम होती है। जितनी थ्योरिया है, सिद्धान्त है, जितना वाङ्मय है, जितने उपदेश है, उनका काम है जानकारी दे देना। किंतु उनसे भावात्मक परिवर्तन हो या व्यवहार बदले, ऐसा बहुत कम होता है। कभी किसी की बात सुनकर व्यक्ति का मस्तिष्क झकृत हो उठता है और वह बदल जाता है, पर इसे सामान्य घटना नही माना जा सकता।

आज सभी धर्मोपदेशको के समक्ष यह एक जटिल प्रश्न उपस्थित है कि प्रतिदिन प्रवचन, सत्संग और नानाविध उपासनाएं होने पर भी लोगो मे कोई परिवर्तन लक्षित नही होता। लोग प्रतिदिन प्रवचन सुनते है, पर व्यवहार मे कोई रूपान्तरण नही होता। यह क्यो ?

सुनने वाले प्रवचन को बहुत तन्मयता से सुनते हैं। सिर धुनते है। पर यह मान लेते है कि सुनना हमारा कार्य है, पर हमे करना वही है जो हम

रोज करते है।

एक दिन पिता ने पुत्र से कहा—'बेटे ! मैं रोज प्रवचन सुनने के लिए जाता हू। तुम भी प्रवचन सुना करो। बहुत मार्मिक प्रवचन होता है।

दूसरे दिन पिता-पुत्र दोनो प्रवचन सुनने गए। मुनि ने उस दिन अद्वैतवाद पर प्रवचन करते हुए कहा—आत्मा एक है। सबकी आत्माएं समान है। मुनि ने इस विषय का विस्तार से विवेचन किया। लडके का मन पसीज गया। प्रवचन सम्पन्न हुआ। पिता भोजन करने घर चला गया और पुत्र दूकान पर आ बैठा। वह किराने का व्यापारी था। यत्र-तत्र अनाज के ढेर लग रहे थे। एक गाय आई और ढेर मे पड़े अनाज को खाने लगी। लडके ने देखा, सोचा, मेरी और इसकी आत्मा मे कोई अन्तर नही है। फिर अनाज खाए तो मुझे क्या ? घर से दूकान की ओर आते हुए पिता ने दूर से ही देख लिया कि गाय अनाज खा रही है और पुत्र निश्चिन्त होकर बैठा है। पिता ने आते ही लडके को डाटा। लडके ने कहा—पिताजी ! मैने आज ही तो सुना था कि आत्माए सब समान है, एक है, अद्वैत है। गाय की आत्मा और हमारी आत्मा दो नही है, समान है।' पिता ने कहा— मूर्ख ! वह बात तो प्रवचन मे सुनने की थी। यदि उसे दूकान पर या घर पर लागू किया जाता है तो न दूकान चल सकती है और न घर चल सकता है।

यह सुनना स्थान से प्रतिबद्ध हो गया और आचरण की स्थानप्रतिबद्धता कोई दूसरी हो गई।

सत्य त्रैकालिक होता है। वह देश-काल से अतीत होता है। किंतु श्रवण, प्रवचन, वाणियां, सिद्धात—ये सब स्थान प्रतिबद्ध हो गए, देश-काल प्रतिबद्ध हो गए। सुबह-शाम भगवान् का नाम लेना, दिन भर उसकी विस्मृति हो जाए तो कोई बात नही। धर्म-स्थान पर भगवान की पूरी चिंता करना और दूकान, घर या कार्यालय मे उसे भूल जाना—यह आज की प्रवृत्ति है। यह देश-काल की प्रतिबद्धता आ गई। इससे यह स्पष्ट होता है कि कोरा सिद्धान्त उतना उपयोगी नही है, जितना प्रयोग के साथ वह उपयोगी बनता है। प्रयोग और अभ्यास छूट गया, केवल सिद्धान्त रह गया। भाव-परिवर्तन के लिए सिद्धांत और प्रयोग—दोनो का समन्वय आवश्यक है। समन्वय जीवन का मूल्य है। हम किसी एक बात को न पकड़ें। दोनो को साथ लेकर चलें। सिद्धान्त को जाने बिना प्रयोग हो नही सकता। इसलिए ज्ञान और क्रिया का समन्वय होना चाहिए। 'पढमं नाणं तओ दया'—पहले ज्ञान और फिर क्रिया, पहले जानो फिर उसका अभ्यास करो।

सिद्धान्त या मूल्य-बोध को व्यर्थ नही माना जा सकता। उसकी सार्थकता है। यदि वह कोरा या अकेला है तो सार्थकता आधी हो जाती है, पूरी नही रहती। वह पूरी होती है अभ्यास या प्रयोग के द्वारा। पक्षी के

दो पख होते है । क्या वह दाए पख से उडता है या बाए से ? उत्तर होगा, न वह केवल दाए पख से उडता है और न वह केवल बाएं पख से उड़ता है । वह दोनो से उडान भरता है । एक पैर से चला जा सकता है, पर वह लगडापन है । दोनो पैरो से ही ठीक चला जा सकता है । सिद्धान्त और अभ्यास—ये दो पख है । इनके सहारे से ही ठीक उड़ान भरी जा सकती है । ये दो पैर है, इनके सहारे ही ठीक चला जा सकता ।

जीवन का मूल्य है—समन्वय । उसका विकास होना चाहिए ।

एक ओर वैज्ञानिक है और दूसरी ओर आध्यात्मिक या धार्मिक । यह समन्वय का दूसरा पक्ष है । दोनो मे बहुत दूरी है । वैज्ञानिक समझता है कि धर्म कोरा बकवास है और धार्मिक समझता है कि वैज्ञानिक नास्तिक है, व्यर्थ की बातें प्रचारित करता है । दोनो एक दूसरे पर छीटाकशी करते है । किन्तु चिन्तनशील लोग मानते है कि अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय होना चाहिए । आज के विद्यार्थो मे यह दृष्टिकोण विकसित होना चाहिए । विनोबा बहुत बार कहते—अब धर्म युग नही है, अध्यात्म का युग है, राजनीति का युग नही है, विज्ञान का युग है । अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय होना चाहिए । आचार्य तुलसी ने इस बार पर बहुत बल दिया और समन्वय की बात को आगे बढाया । जीवन विज्ञान के पाठ्यक्रम मे अध्यात्म और विज्ञान का पूरा समन्वय है । इसके क्रम मे प्राचीन विद्याओ—अध्यात्म, योगदर्शन, कर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र का समावेश है तो अद्यतन विद्याओ— एनोटामी, यूरोलॉजी, माइकोलॉजी बायोकेमिस्ट्री आदि का भी समावेश है । इन दोनो विद्याओ—प्राचीन और अर्वाचीन का अध्ययन इस जीवन-विज्ञान की पद्धति मे कराया जाता है । अभी/सन् १९८४/जोधपुर मे हम थे । वह भारत सरकार के दो बडे सस्थान है—केन्द्रीय रूक्ष क्षेत्र अनुसधान सस्थान (Central Arid Zone Research Institute)और 'काजरी ओरडिनेन्स लेबोरेटरी' । दोनो मे सैकडो वैज्ञानिक कार्यरत हैं । इन वैज्ञानिको तथा लेक्चरारो का भी सहयोग रहा । उनके अनेक लेक्चर हुए और जीवन-विज्ञान के विद्यार्थियो ने उनका लाभ उठाया । जीवन-विज्ञान प्रशिक्षण की यह परिकल्पना है कि आध्यात्मिक+वैज्ञानिक—ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण हो । कोरा आध्यात्मिक व्यक्तित्व या कोरा वैज्ञानिक व्यक्तित्व बहुत लाभदायी नही होता । दोनो से समन्वित व्यक्तित्व बहुत लाभप्रद हो सकता है । जीवन-विज्ञान का विद्यार्थी बहुविध ज्ञान विधाओ का ज्ञान प्राप्त करता है, पर साथ ही साथ प्रेक्षाध्यान के सदर्भ मे पूरे प्रयोग भी करता है । यह है ज्ञान और क्रिया की समन्विति । जैसे मेडिकल साइन्स का विद्यार्थी जानता है कि अमुक-अमुक ग्रंथिया कहा है ? उनका कार्य क्या है ? इसका उसे पूरा ज्ञान होता है । वह डाक्टर बन सकता है । पर आध्यात्मिक+वैज्ञानिक नहीं बन सकता । हमे उनके

आध्यात्मिक मूल्य की जानकारी भी होनी चाहिए। पिनियल का फक्शन शारीरिक है, किन्तु उस पर ध्यान—एकाग्रता करने से क्रोध शात हो सकता है। यह मेडिकल साइन्स का विषय है। जोधपुर मे मेडिकल कालेज के प्रोफेसर ने कहा—हम पिनियल आदि ग्लॉन्ड्स के फक्शन को जानते है, किन्तु उनके द्वारा भाव-परिवर्तन किया जा सकता है, यह नही जानते। यह एक रहस्य की बात है। जैसे-जैसे आज विज्ञान ने नई खोजे शुरू की है, वैसे-वैसे नई बाते सामने आ रही है।

एक व्यक्ति के मन मे पीडा है, शरीर मे पीडा है, उस समय कोई धार्मिक प्रवचन सुनाया और उसकी पीडा शात हो गई। ऐसे लोगो को भी देखा है जो केन्सर की बीमारी से आक्रान्त थे। उन्हे भयकर पीडा होती थी, किन्तु जब उन्हे धार्मिक गीत और वाणी सुनाई जाती तब ऐसा लगता मानो उनके कोई पीडा है ही नही। ऐसा होता है, पर कैसे ? यह एक प्रश्न है। वैज्ञानिक जगत् मे इसकी सुन्दर व्याख्या प्राप्त है। जब व्यक्ति अपनी श्रद्धा की बात सुनता है, तब मस्तिष्क मे 'एन्डोरफीन' की मात्रा बढ जाती है। वह ऐसा रसायन है जो पीडा को शात करता है, दर्द को कम करता है। ऐसी अनेक घटनाए पढी है, देखी है।

काशी नरेश बीमार थे। ऑपरेशन होना था। उन्होने सर्जन से कहा—एनेथेसिया सुघाए बिना ही मेरा ऑपरेशन कर देना। जब ऑपरेशन का समय हो, तब मुझे गीता दे दे। मै उसका पाठ करूंगा और जब मैं सकेत करू तब ऑपरेशन कर देना, मत हिचकना। सर्जन ने बात मान ली। उनका ऑपरेशन पूर्ण जागरूक अवस्था मे सपन्न हुआ। 'ओह' तक उनके मुह से नही निकला।

हमारे सघ के एक श्रावक थे। वे चूरू जिले के एक गाव राजलदेसर मे रहते थे। उनका नाम था चादमल वैद। वे धार्मिक प्रवृत्ति के थे। उनके अदीठ हो गई। उसका ऑपरेशन होना था। डाक्टरो ने कहा—ऑपरेशन बडा है, इसलिए सूघनी सूघनी होगी। वे बोले—मुझे मूर्च्छित करने की जरूरत नही है। मैं जब ध्यान मे लीन हो जाऊ तब आप ऑपरेशन कर देना। समय की चिंता मत करना। वे पद्मासन मे बैठ गए। ध्यान मे लीन हो गए। ऑपरेशन प्रारम्भ हुआ। दो घटे लगे होगे। वह सम्पन्न हुआ। उन्होने ध्यान सम्पन्न किया।

प्रश्न होता है, ऐसा सम्भव कैसे होता है ? इसका उत्तर है कि जब हमारे मस्तिष्क मे प्रशान्त भाव जागृत होता है और एन्डोरफीन स्राव की मात्रा बढ़ती है, तब पीडा का अनुभव नही होता।

अनुप्रेक्षा भाव-परिवर्तन की प्रक्रिया है। स्वत-सूचना के द्वारा भाव-परिवर्तन होता है। घृणा, ईर्ष्या भय, द्वेष, साम्प्रदायिकता—ये सारे भाव है।

इनको अनुप्रेक्षा—सजेशन के द्वारा बदला जा सकता है। अभय की अनुप्रेक्षा से भय का भाव शात हो जाता है। मृदुता की अनुप्रेक्षा से क्रूरता का भाव धुल जाता है।

रगो के ध्यान के द्वारा भी भाव-परिवर्तन होता है। ये सारे आन्तरिक प्रयोग हैं।

भाव से व्यवहार बदलता है और व्यवहार से भाव बदलता है। भाव और व्यवहार का गहरा सम्बन्ध है। हम मानते है कि जैसा भाव होता है, वैसा व्यवहार बनता है। किन्तु आज की एक पद्धति है 'बायोफीड'। इसके द्वारा व्यवहार को बदल कर भी भाव को बदला जा सकता है। बाहर के द्वारा भीतर को बदला जा सकता है और भीतर के द्वारा बाहर को बदला जा सकता है।

कुछ वर्ष पूर्व दिल्ली के स्कूलो मे 'अणुव्रत स्टोर' का प्रयोग किया गया। यहा एक खुले कमरे मे पेन्सिले, कोपिया, पाठ्यपुस्तके तथा अन्यान्य सामान्य वस्तुए, जो विद्यार्थियो के उपयोग मे आती है, रख दी। सबके मूल्यो की एक सूची टाग दी और विद्यार्थियो से कहा गया कि नियत मूल्य वहा एक पेटी मे डालकर वस्तुए खरीद ले। न वहां कोई निरीक्षक था और न पैसा लेने वाला। यह प्रयोग चला। अप्रामाणिकता की कुछेक छुटपुट घटनाए सामने आई, पर अधिकाश विद्यार्थियो ने प्रामाणिकता से काम किया। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यार्थियो मे भाव-परिवर्तन हुआ है। यह व्यवहार-परिवर्तन के द्वारा भाव-परिवर्तन का उदाहरण है। जब व्यक्ति एक प्रकार का अभ्यास करता जाता है तब मासपेशियों का अभ्यास भी भाव को बदल देता है। जिसको हाथ उठाने का अभ्यास होता है, तब उत्तेजना के समय मे उसे सोचना नही पडता कि मुझे हाथ उठाना है, हाथ स्वय उठ जाता है। मासपेशिया इतनी अभ्यस्त हो जाती है कि सोचने की जरूरत ही नही होती। पहले दिन जब हम नए मकान की सीढिया चढते है तब बहुत ध्यान रखना होता है। किन्तु जब हम अभ्यस्त हो जाते है तब पाव स्वत ऊपर चढने-उतरने मे स्खलित नही होते। मासपेशियो को अभ्यास हो जाता है। ऊट का तागा चल रहा है। मालिक सो रहा है। ऊट मार्ग-च्युत नही होता, मूल मार्ग पर बढता जाता है, क्योंकि उसे अभ्यास हो चुका है।

फ्रास के सेनापति की अगुलिया कट गई। डाक्टर ने अगुलियो का प्रत्यारोपण किया। अब जब सेनापति सामूहिक कार्यक्रमो मे जाता, वहा उसका हाथ दूसरो की जेबो मे चला जाता। उसे भी आश्चर्य होता और देखने वाले भी स्तभित रह जाते। कुछ दिन बीते। उसने डाक्टर को बुलाकर पूछा। डाक्टर ने ध्यान देकर कहा—गलती हो गई। प्रत्यारोपित अगुलिया एक जेबकतरे की थी। इसलिए वे सीधी दूसरो की जेब मे जाती है।

स्नायुओ और मासपेशियो को अभ्यास होता है और वे संस्कार उनमे जम जाते है।

यह स्पष्ट है कि भाव के द्वारा व्यवहार को और व्यवहार के द्वारा भाव को वदला जा सकता है। हमे विद्यार्थी के व्यवहार को वदलना है तो कुछ प्रयोग करने होगे। प्रत्येक व्यक्ति मे सोचने-समझने की शक्ति होती है और जव कुछ प्रयोग किए जाते है तव चेतना बहुत शीघ्र जागृत हो जाती है। वुद्धि-परीक्षा के अनेक प्रयोग किए जाते है। उसी प्रकार आदत के परिवर्तन के लिए भी अनेक प्रयोग किए जा सक्ते है। मूल्यों का विकास प्रयोग और अभ्यास के द्वारा हो सकता है। इसलिए प्रयोगो को विकसित किया जाए।

एक वार विद्यालय मे एक विद्यार्थी को कहा—'तुम्हे अपना जन्म-दिवस मनाना है तो अच्छे कपडे पहन कर आना, माता-पिता को प्रणाम करना, गुरुजनो को प्रणाम करना, सभी साथियो के साथ अच्छा व्यवहार करना।' वच्चा वहुत प्रसन्न हुआ। इस प्रयोग ने उसमे उत्साह भर डाला।

विद्यार्थी के मन मे एक भय होता है, स्कूल के प्रति एक भावना होती है। जव उसे यह लगता है कि वहां मेरा स्वागत होता है, सम्मान होता है, मुझे प्रेम मिलता है, फिर उसके मन का भय भाग जाता है, स्कूल के साथ आत्मीय भाव जाग जाता है। इस प्रकार के व्यावहारिक प्रयोगो के द्वारा भाव-परिवर्तन किया जा सकता है।

मूल्य-विकास के लिए ये दोनो पद्धतिया हैं—व्यवहार के द्वारा भावो को वदलना या भावो के द्वारा व्यवहार को वदलना।

जव भाव-परिवर्तन होता है तव व्यवहार अवश्य वदलता है। जैसा भाव होता है, वैसा व्यवहार वनता है। इसके वीच मे विज्ञान की एक कडी और जुडती है कि भाव द्वारा रसायन पैदा होता है। रसायन भाव पैदा करता है, प्रत्येक व्यवहार के पीछे एक रसायन पैदा होता है। भाव का रसायन भिन्न होता है, क्रोध का और क्षमा का रसायन भिन्न होता है। जितने भाव हैं उतने ही रसायन है। भाव के द्वारा रसायन वदलता है और रसायन के द्वारा व्यवहार। वात जुडी हुई है। यह वात कुछ सूक्ष्म हो जाती है। व्यवहार-परिवर्तन का भी अभ्यास कराना चाहिए।

इस प्रकार मूल्यपरक शिक्षा के विपय मे दो वातो पर ध्यान देना चाहिए—

१. सिद्धात और प्रयोग का समन्वय।

२. भाव-परिवर्तन के लिए अनुप्रेक्षा के प्रयोग और व्यवहार-परिवर्तन के लिए व्यावहारिक प्रयोग।

ये समन्वित प्रयोग चलने चाहिए। प्रयोग के विना आदतें वदलती

नही। विद्यार्थियो को रचनात्मक विकल्प देने से उनमे परिवर्तन घटित होने लगता है। जब बच्चा मिट्टी खाता है, माताए उसको वशलोचन देती है। बच्चा वशलोचन खाने लगता है और उसकी मिट्टी खाने की आदत छूट जाती है। रचनात्मक विकल्पो के द्वारा आदते बदलती है।

एक बच्चे मे चोरी की आदत बन गई। वह जब कभी कोई भी चीज चुरा लेता है। उसको कैसे बदले ? पहली बात है कि उसको चोरी के परिणामो का बोध कराया जाए। दूसरी बात है कि उसको प्रयोग सिखाए जाए। वह चोरी का निर्णय लेता है चेतनमाइन्ड से। दर्शन केन्द्र पर ध्यान कराने से उसकी अन्तर् प्रज्ञा जागृत होगी और तब चोरी की आदत छूट जाएगी। यह आन्तरिक प्रयोग है। चोरी छुडवाने के लिए व्यावहारिक प्रयोग भी कराने चाहिए। ऐसी चीज उसके सामने रखे कि वह उस चीज को चुराने के लिए लालायित हो जाए। जब वह चोरी करे तो उसे कहे कि चोरी करते हमने देखा है। दो-चार बार ऐसा करने से उसमे अपने आप एक मानसिक भाव पैदा होगा कि मै चोरी करता हू, इसलिए मुझे यह सब सुनना पडता है। तब उसमे परिवर्तन की प्रक्रिया शुरु हो जाएगी। यदि उसको टोका जाता है तो उसे और अधिक प्रेरणा मिलती है। हम मूलत : प्रयोग की बात को मूल्य दे। इससे परिवर्तन की सभावना की जा सकती है।

कुछ लोग मानते है कि दड-प्रयोग से भाव-परिवर्तन होता है। दड-प्रयोग अनुचित ही है, ऐसा तो नही कहा जा सकता, पर उसकी एक सीमा है। सभी की योग्यताएं एक समान विकसित नही होती। सबकी अलग-अलग योग्यताए होती है। इस स्थिति मे दंड का भी अपना स्थान है। यदि किसी का मस्तिष्क पगला जाता है, अस्त-व्यस्त हो जाता है तो उसे दड के भय से व्यवस्थित रखा जा सकता है और यदि उसके साथ मीठी बातें की जाए तो वह हावी हो जाता है। दड का प्रयोग एक सीमा तक उपयोगी है।

विद्यार्थी को निरन्तर दड से गुजरना पडे, यह भी अच्छा नही है और उसे दण्ड से सर्वथा मुक्त रखा जाए, यह भी अच्छा नही है। सतुलन होना चाहिए। यह निर्णय लेने की क्षमता होनी चाहिए कि कब, किसे, कितना दड दिया जाए।

किसी विद्यार्थी मे झूठ बोलने की आदत है। उसे उस आदत से मुक्त करना है तो पहले उसे झूठ के परिणामो का बोध कराना होगा। 'झूठ मत बोलो' यह कहने मात्र से कोई भी इस बुराई से बच नही सकता। सौ बार उपदेश देने पर भी वह झूठ बोलना नही छोडता। यदि उसे अनुप्रेक्षा का प्रयोग कराया जाता है तो झूठ बोलने की आदत मे परिवर्तन होने लगता है। अनुप्रेक्षा का सिद्धान्त है, फ्रीक्वेन्सी का सिद्धान्त है, आवृत्तियो का सिद्धान्त है। बार-बार उस बात को दोहराने से सस्कार का निर्माण होता है। यही परिवर्तन की प्रक्रिया है।

परिवर्तन के हेतु : आलंबन और अभ्यास

परिवर्तन की बात सबको अच्छी लगती है। प्रत्येक व्यक्ति विकास चाहता है। विकास का अर्थ है—परिवर्तन, जो है उससे आगे बढना। विकास के लिए कुछ उपाय चाहिए। उपाय के बिना विकास नही होता। जो उपाय को प्राप्त हो जाता है वह लक्ष्य तक पहुच जाता है। जो निरुपाय होता है, वह जहा का तहां बैठा रह जाता। अत. सत्य की खोज के लिए सबसे बडा साधन है उपाय की खोज। आचार्य और शिक्षक वह होता है जो उपायज्ञ होता है, उपाय को जानता है। विश्व मे सबसे महत्त्व की बात है—आलबन की खोज। बदलने के लिए आलबन आवश्यक होता है।

विश्व साहित्य मे सूक्तो का बहुत महत्त्व रहा है। अनेक सूक्त अनेक व्यक्तियो के लिए आलबन बने और उनके सहारे अनेक लोगो का कायापलट हो गया। एक-एक शब्द ने, एक-एक वाक्य ने, एक-एक श्लोक ने जीवन को बदल दिया। सूक्तो का प्रयोग बहुत प्राचीनकाल से हो रहा है। भरत चक्रवर्ती रोज आलबन का प्रयोग करते थे। वे अनासक्त थे। चक्रवर्ती हो और अनासक्त रहे, यह बहुत बडी बात थी। पर आलबन के सहारे यह बात भी घटित हो गई। वे राज्य करते, पर राज्य उनको छू नही पाया। यही कारण था कि वे महल मे बैठे-बैठे केवली बन गए। उनका एक आलबन-सूत्र था। जब मगलपाठक उन्हे प्रात. जागृत करते तब वे कहते—'वर्धते भयं, वर्धते भयं'—भय बढ रहा है, भय बढ रहा है। इसका तात्पर्यार्थ था कि राज्य बहुत बडी आसक्ति है। आसक्ति भय का कारण बनती है। इस एक सूक्त के आधार पर भरत चक्रवर्ती अनासक्त बने रहे।

सस्कृत काव्य 'किरातार्जुनीय' के प्रणेता भारवी सस्कृत साहित्य के महान् कवि थे। जीवन की प्रारभिक अवस्था मे वे विपथगामी थे। मा द्वारा प्रतिबुद्ध होकर वे सत्पथ पर आ गए। मृत्यु से पूर्व महाकवि ने अपनी पत्नी को एक श्लोक देते हुए कहा—'मेरे मरने के बाद यदि तुम्हे आर्थिक-सकट का सामना करना पडे तो इस श्लोक को बेच देना। इससे तुम्हे प्रचुर धन प्राप्त होगा।

महाकवि भारवी की मृत्यु हो गई। कुछ दिनो के पश्चात् कवि-पत्नी ने अर्थ संकट महसूस किया। उसे श्लोक की बात याद आई।

उन्ही दिनो एक धनिक वणिक-पुत्र ने एक बाजार लगाया। उसने यह घोषणा करवाई कि उस बाजार मे जो वस्तु अनबिकी रह जायेगी, उसे

वह स्वय खरीद लेगा। कवि-पत्नी उस श्लोक को लेकर बाजार मे गई और उसका मूल्य बीस सहस्र स्वर्णमुद्रा रखा। बाजार लगा। लोग आए। श्लोक का मूल्य देख स्तभित रह गये। किसी ने श्लोक को खरीदने की उत्सुकता नही दिखाई।

बाजार का समय पूरा हुआ। वणिक्-पुत्र के कर्मचारी वहां आए और जो वस्तुएं नही बिकी थी, उनकी सूची तैयार करने लगे। श्लोक भी सूची मे आ गया। उसका मूल्य सुनकर सब अवाक् रह गए। वणिक् पुत्र स्वय वहा आया और अपनी वचनबद्धता के कारण बीस हजार स्वर्णमुद्राये देकर उस श्लोक को खरीद लिया। श्लोक की बहुमूल्यता को ध्यान मे रखकर उसने उस श्लोक को बडे-बडे स्वर्ण अक्षरो मे लिखवाकर अपने शयनकक्ष मे टगवा दिया।

एक बार उसे व्यापार के निमित्त से सिहल देश जाना पडा। उस समय उसकी पत्नी सगर्भा थी। वह वणिक्-पुत्र सिहल देश गया, व्यापार किया किन्तु षड्यत्रकारियो के एक षड्यत्र मे फस गया। उसे वहा चौदह वर्ष की सजा मिली। वह कारावास मे चला गया।

चौदह वर्ष पूरे हुए। उसने अपने देश की ओर प्रस्थान किया। मन उमगो से भरा था। वह अपने गाव पहुचा। वह अपने घर मे चुपके से प्रवेश कर पत्नी को आश्चर्यचकित कर देना चाहता था। रात का समय। वह घर पहुंचा। खुले वातायन से देखा कि उसकी पत्नी एक युवक के साथ एक ही पलग पर सो रही है। पत्नी का हाथ उस युवक के कधो पर था। यह देखते ही वह आग-बबूला हो गया। तत्काल उसने तलवार निकाली। वह पत्नी और उस युवक को मृत्युधाम पहुचाना चाहता था। वह कमरे मे गया। हठात् उसकी दृष्टि स्वर्णाक्षरो मे लिखित उस श्लोक पर पडी, जिसे उसने बीस हजार स्वर्णमुद्राओ में खरीदा था। उसने मन ही मन उस श्लोक को पढा—

'सहसा विदधीत न क्रियां, अविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धा स्वयमेव संपदा॥'

उसने अर्थ का चिन्तन किया—सहसा कोई कार्य मत करो। अविवेक परम आपदाओ का स्थान है। लक्ष्मी विवेक का ही वरण करती है।

वणिक्-पुत्र ने श्लोक के हार्द को समझा और पत्नी को जगाया। पत्नी उठी। अपने सामने पति को देख, वह आश्चर्य-चकित रह गई। वह पति के चरणों मे लुठ गई। पति ने अपने आपको सयत कर पूछा – यह युवक कौन है? पत्नी ने कहा – यह आपका युवा पुत्र है। यह पन्द्रह वर्ष का हो गया है। आप इसे सभाले।' उसने पुत्र को जगाया। पुत्र जगा। उसने पूछा— मां! ये कौन है? मा बोली—ये है तुम्हारे पिताजी! इन्हे प्रणाम करो। उसने अपने

पिता का चरण-स्पर्श किया । पिता प्रफुल्लित हो गया ।

श्लोक को बीस सहस्र स्वर्ण-मुद्राओ मे खरीदना आज सार्थक हो गया। यदि वह श्लोक नही होता तो आज भयंकर दुर्घटना हो जाती, पत्नी और पुत्र की मृत्यु हो जाती और सारा घर विनष्ट हो जाता । केवल एक श्लोक ने सर्वनाश से बचा लिया ।

आलंबनों का बहुत महत्त्व होता है । विद्यालयो मे अनेक आलबन सूत्र लिखे मिलते है । पर आलंबन भी अभ्यास के बिना इतने उपयोगी नही होते ।

आलंबन का अगला चरण है—अभ्यास ।

अभ्यास का अर्थ है, पुनरावृत्ति, बार-बार करना । इसी अभ्यास से क्षमता का विकास होता है, शक्ति बढती है ।

एक व्यक्ति के मन मे आया कि वह सांड को अपने हाथों मे उठाए । कहा भारी भरकम साड और कहां व्यक्ति के निर्बल हाथ ! उसमे बुद्धि थी । उसने उपाय की खोज की । उसे समाधान मिल गया । अब उसने तत्काल उत्पन्न बछडे को उठाना प्रारम्भ किया । प्रतिदिन वह निश्चित समय पर उसे उठाता । वह क्रम चलता रहा । उसकी वह दिनचर्या बन गई । ज्यो-ज्यो बछडा बढता गया, उसकी क्षमता भी बढ़ती गई । दो-तीन वर्ष तक अभ्यास चलता रहा । बछड़ा साड बना और उसने साड को उठाने में सफलता प्राप्त कर ली ।

यह अभ्यास के द्वारा ही संभव हो सका है । आदमी कितना ही बलिष्ठ क्यो न हो, वह सांड को नही उठा सकता । पर उपाय किया और आदमी ने सांड को उठा लिया ।

अभ्यास के द्वारा ही संस्कार का निर्माण होता है । आचरण, व्यवहार और शब्द को बार-बार दोहराने से यह सस्कार बन जाता है । अभ्यास के बिना सस्कार का निर्माण नही होता ।

मन बहुत चचल है । इसको कैसे एकाग्र किया जाए ? उपाय की खोज की । श्वास चचलता को कम करने का अचूक उपाय है । श्वास चंचलता पैदा करता है, सक्रियता लाता है । चचलता को कम करना है तो श्वास की गति को कम करना होगा । श्वास की गति जितनी तेज होगी उतनी ही मात्रा मे चचलता बढेगी । यह उपाय मिल गया । अब इसका अभ्यास करना होगा ।

अभ्यास का अर्थ है—सन्निधि, निकटता, पास मे रहना । उस क्रिया का अभ्यास ऐसा हो जाए कि क्रिया और करने वाला तदात्म हो जाए, एक हो जाए ।

अभ्यास को परिपक्व करने के लिए तीन तत्त्व अपेक्षित हैं—दीर्घकालिता, निरंतरता और सत्कार-सेविता । अभ्यास को दीर्घकाल तक करते रहना चाहिए । दो-चार दिन करने से वह अभ्यास परिपक्व नही होता ।

दूसरी बात है कि अभ्यास निरंतर चलना चाहिए। दो दिन अभ्यास किया, चार दिन छोड दिया, फिर दस दिन किया, फिर बीस दिन छोड दिया—ऐसा करने से अभ्यास फलदायी नही होता। ठीक फ्रीक्वेन्सी के बिना उसमे शक्ति नही आती। इसके लिए निरंतरता अपेक्षित होती है। तीसरी बात है—सत्कार-सेविता। जो अभ्यास करना है उसके प्रति पूर्ण सत्कारभाव होना चाहिए, श्रद्धा होनी चाहिए। श्रद्धापूर्वक किया जाने वाला अभ्यास सही होगा और फलदायी होगा।

वृत्तियो और भावो के परिवर्तन के लिए जो उपाय या आलम्बन खोजे गये है, उनमे लक्ष्य तक पहुंचाने की क्षमता है। आलंबन कभी लक्ष्य तक नही पहुचाता। वह माध्यम बनता है। पहुचाता है व्यक्ति। वह आलबन का समुचित सेवन करता है और पहुंच जाता है। यह सब व्यक्ति पर निर्भर करता है इसलिए उपाय और आलम्बन से भी अधिक शक्तिशाली साधन बन सकता है अभ्यास। हम अच्छे-अच्छे सिद्धान्तो को जानते है, पर जब तक इन सिद्धान्तो का अभ्यास नही होता तब तक ये सिद्धान्त बहुत कारगर नही होते।

अनेक लोग अहिंसा मे विश्वास करते है। वे अहिसा का सकल्प लेते है। सकल्प लेना एक बात है और फिर अहिंसा को सिद्ध करना दूसरी बात है। संकल्प कर लिया कि मै अहिंसक रहूगा, हिंसा नही करूंगा। इतने मात्र से हिंसा रुक नही जाती, अहिंसा पक नही जाती। अहिंसा को पकाने के लिए बहुत अभ्यास अपेक्षित होता है। बिना तेज आच के कुछ पकता नही। अहिंसा के संकल्प को परिपक्व करने के लिए दो सिद्धान्त है—

१. सब जीव समान है।

२. हम सब एक है।

इनके लिए दो आलम्बन-सूत्र है—

'तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि'—वह तू ही है, जिसे तू मारना चाहता है।'

'सव्वभूयप्पभूयस्स'—इसका तात्पर्य है, हम सब एक है।

इन आलबन-सूत्रो का निरंतर अभ्यास किया जाए, इनको बार-बार दोहराया जाए, चिन्तन और मनन किया जाए तो यह बात अनुभूति मे उतरने लगती है। यदि कोई व्यक्ति एक वर्ष तक ऐसा करे तो उसका सकल्प पकने की स्थिति मे आ जाता है। बिना अभ्यास किए ज्ञान और आचरण की दूरी मिटती नही। आदमी संकल्प ले लेता है, पर उसे पकाता नही। पकाने के लिए तेज आच चाहिए। वह तेज आच है—अभ्यास, पुनरावृत्ति। इसमे शब्द से चलते-चलते आदमी अनुभूति तक पहुच जाता है। चलता है शब्द से, पहुच जाता है अनुभूति पर।

पति परदेश गया हुआ था। पत्नी घर मे थी। आठ-दस महीने बीत गए। कोई सवाद नही मिला। वह जानकारी करने के लिए तड़फती थी। अचानक एक दिन पत्र आया। पत्र पढकर उसने सारी स्थिति जान ली। इसमे माध्यम बना शब्द। वह स्थिति शब्द तक सीमित नही रही, अनुभूति मे चली गई। शब्द के आधार पर सुख की अनुभूति भी की जा सकती है और दुःख की अनुभूति भी की जा सकती है।

आलम्बन शब्दात्मक हो सकते है, पर हम शब्द पर नही अटकेगे। उसके माध्यम से अभ्यास करेंगे और चिन्तन-मनन करते-करते अनुभूति तक चले जायेगे। अनुभूति के स्तर पर जो घटित होता है वह हमारी परिवर्तन की भूमिका है। वही आदमी बदलता है। एक बार जिसको गहरे मे अनुभव हो गया वह आदमी अवश्य बदलेगा। जो बात केवल रीजनिंग माइड तक जाती है, कोन्शियस माइन्ड तक पहुचती है वह बात अधिक स्थिर नही रह पाती। जो बात अनकोन्शियस माइन्ड तक पहुंच जाती है, वह छूटती नही, वह पकड ली जाती है। अभ्यास का अर्थ ही है कि आलंबन के सहारे चलते-चलते वहा नक पहुच जाना। वहां पहुचने के बाद आलम्बन छुट जाता है, शब्द छूट जाता है, केवल अर्थ वच जाता है यह है शब्द से अर्थ तक की यात्रा।

हमारी चेतना के दो स्तर है। एक है ज्ञान का स्तर और दूसरा है अनुभूति का स्तर। ज्ञान के स्तर पर आदमी जान लेता है। अनुभूति के स्तर पर आदमी वदलता है। जब तक आदमी ज्ञान के स्तर पर रहता है तब तक उसका आचार-व्यवहार बदलता नही। वह कितना ही पढ़-लिख जाए, आचार से वह शून्य रहेगा, क्योकि उसमे अनुभूति नही है। यह अनुभूति की चेतना वहुत महत्त्वपूर्ण है। यह बुद्धि से आगे की चेतना है इसको जगाना ही अभ्यास का काम है।

रूपान्तरण की प्रक्रिया के तीन घटको की हमने चर्चा की। वे तीन घटक है—

१. उपाय की खोज।

२. आलवन

३. अभ्यास

जहा ये तीनो मिलते है वहा परिवर्तन मे कोई संदेह नही रहता। किसान यह चिन्ता नही करता कि वीज वो रहा हू, उगेगा या नही? यदि साधन-सामग्री पूरी है तो वीज अवश्य उगेगा। उगने का पूरा क्रम मिलता है तो वह उग जाता है और नही मिलता है तो वह नही उगता। सत्य का नियम सार्वभौमिक होता है। यह युनिवर्सल लॉ है। इसमे कोई अन्तर नही आता।

उपाय, आलबन और अभ्यास—ये तीनो जहां होते है, वहां परिवर्तन निश्चित है। इस प्रक्रिया मे आदमी स्वय ढल सकता है और दूसरों को ढाल सकता है। उपाय की खोज स्व-बुद्धि से भी हो सकती है और दूसरो के सहयोग से भी हो सकती है।

ईश्वर आलबन नही है, वह मंजिल है। ईश्वर आदर्श है और आलवन है भक्ति। हमे ईश्वर तक पहुंचना है। उसका माध्यम वनता है भक्ति। ईश्वर सहारा नही वनता, वह तो लक्ष्य है, जहा हमें पहुंचना है। आलबन लक्ष्य नही बनता और लक्ष्य आलंबन नही बनता।

हम आलवंन का महत्त्व समझे और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने मे उसका सही उपयोग करें।

जीवन-विज्ञान और मस्तिष्क प्रशिक्षण

शिक्षा प्रणाली मे बौद्धिक विकास पर बहुत बल दिया जा रहा है। विकास चाहे बौद्धिक हो या चारित्रिक, सबका आधार बनता है मस्तिष्क। हमारे स्वभाव, व्यवहार और बुद्धि का नियत्रण मस्तिष्क से होता है और फिर उसकी कुछ सहयोगी क्रियाए (रिफ्लेक्स एक्टीविटी) होती है तो रीढ़ की हड्डी आदि उसमे सहभागी बनते है। परन्तु सबका मूल आधार है मस्तिष्क। मस्तिष्क को प्रशिक्षित करना बहुत आवश्यक है। जिस समाज-व्यवस्था के साथ आदमी जीता है, उस समाज-व्यवस्था के अनुरूप मस्तिष्क को प्रशिक्षित करना अत्यन्त अनिवार्य हो जाता है, अन्यथा समाज-व्यवस्था और शिक्षा के बीच कोई संवादिता स्थापित नही की जा सकती। समाज व्यवस्था और कही जा रही है तथा शिक्षा और कही जा रही है। दोनो के बीच कोई सामजस्य या सामरस्य नही होता है तो शिक्षा की सार्थकता भी उतनी नही रहती। समाज-व्यवस्था के अनुरूप शिक्षा का तत्र होना चाहिए और शिक्षा के द्वारा समाज-व्यवस्था लाभान्वित होनी चाहिए। यह सबध बहुत आवश्यक है। आज समाजवादी समाज-व्यवस्था और जनतत्र चल रहा है। जो समाजवाद और जनतत्र की अपेक्षाए है, वे यदि शिक्षा के द्वारा पूरी नही होती है तो फिर दोनो के बीच कोई तालमेल नही बैठ सकता। शिक्षा का एक स्वतत्र तत्र बन जाता है और समाज-व्यवस्था कही अलग-थलग चली जाती है। ऐसी स्थिति मे समाज के लिए शिक्षा नही होती और शिक्षा के लिए समाज नही होता। अतः यह सोचना आवश्यक है कि शिक्षा के द्वारा किस प्रकार के व्यक्तित्व का निर्माण होगा और वह समाज के लिए कितना उपयोगी बन सकेगा।

जीवन-विज्ञान की प्रणाली सस्कार-परिवर्तन की प्रणाली है। यह बौद्धिक क्षमता और स्मृति की क्षमता को बढाने वाली प्रणाली है, क्योकि इसमे ग्रहण की अपेक्षा ग्रहण के मूल स्रोत पर अधिक ध्यान दिया गया है। व्यक्ति-व्यक्ति मे ग्रहणात्मक क्षमता का तारतम्य होता है। वह कितना रिसेप्टिव है, कितना ग्रहण करता है—इस पर विशेष ध्यान दिया जाता है। पर सोचना यह है कि ग्रहण के जो मूल केन्द्र है मस्तिष्क के, जो सुप्त पडे हैं, उन्हे कैसे जगाया जाए ?

विद्यार्थी का व्यवहार, चरित्र और अनुशासन—इनको शिक्षा से अलग नही किया जा सकता। केवल बौद्धिक विकास को शिक्षा नही माना जा

सकता। बौद्धिक विकास के साथ ये सारी बाते अविच्छिन्न और अविभक्त रूप मे जुडी हुई है। जैसे-जैसे विद्यार्थी मे बौद्धिक विकास हो, वैसे-वैसे उसमे चरित्र, व्यवहार और अनुशासन का विकास भी हो। उसके जीवन मे इन गुणो के मूल्य प्रतिष्ठापित हो। मूल्यात्मकता और शिक्षा—दोनों को कभी अलग नहीं किया जा सकता। जो सामाजिक, नैतिक, सास्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य है, उनको छोडकर शिक्षा को भिन्न स्वतत्र रूप मे नही देखा जा सकता। इसलिए मस्तिष्क का वैसा प्रशिक्षण हो जिससे ये सारे मूल्य एक साथ सभाविता के रूप मे विकसित हो सके इस दृष्टि से मस्तिष्क के सभी केन्द्रो को विकसित करना जरूरी है।

मस्तिष्क के दो पटल है। वाया पटल भाषा, तर्क गणित आदि के लिए जिम्मेदार है और दाया पटल अन्त प्रज्ञा आध्यात्मिक चेतना, आन्तरिक प्रेरणा, स्वप्न आदि के लिए जिम्मेदार है। दोनो पटलो का संतुलित विकास न होने पर समस्याए उत्पन्न होती है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में बाए पटल पर अधिक भार पडा हुआ है और दाया पटल सोया पडा हैं सुप्त है। यह आवश्यक है कि दोनो का सतुलित विकास हो, तभी हम बौद्धिक विकास और चारित्रिक विकास—दोनो की कल्पना कर सकते है यदि एक पटल का ही विकास हुआ, दूसरा सोया रहा तो समस्या कभी सुलझ नही पाएगी। आज शिक्षाशास्त्री, शिक्षक, शिक्षानीति और शिक्षा-प्रणाली के सामने एक प्रश्न है कि बौद्धिक विकास के साथ व्यक्तित्व का विकास क्यो नहीं हो रहा है। समाज को ऐसा व्यक्तित्व चाहिए जो समाज की समस्या को सुलझा सके। मूलत. मस्तिष्क का असतुलन बना हुआ है। जीवन-विज्ञान की प्रणाली का आधारभूत तत्त्व यह है कि मस्तिष्क का सतुलन केवल पढने से नही हो सकता, केवल बुद्धि के द्वारा नही हो सकता। बुद्धि का कार्य है विश्लेपण करना, निर्धारण और निश्चय करना। चरित्र का निर्माण करना बुद्धि का काम नही है। मस्तिष्क मे अनेक केन्द्र है। बुद्धि का केन्द्र भिन्न है और चरित्र निर्माण का केन्द्र भिन्न है। मस्तिष्क-विद्या के आधार पर मस्तिष्क के केन्द्रो का निर्धारण भी कर लिया गया है कि कौन सा केन्द्र किसके लिए उत्तरदायी है। कौन से रसायनो के द्वारा कैसे विद्युत्-सवेग पैदा होते है, सवेदना पैदा होती है। किस रसायन के द्वारा उनका नियत्रण होता है और किस केन्द्र से कौनसी प्रवृत्ति होती है—यह सारा ज्ञान कर लिया गया है।

व्यक्ति के चरित्र का केन्द्र है—हाइपोथेलेमस। यह ब्रेन का एक हिस्सा है। रीजनिंग माइड बौद्धिक विकास या विवेक के लिए जिम्मेदार है।

आदमी जानता है कि यह कार्य बुरा है, कलह करना, संघर्ष करना बुरा है, फिर भी वह कार्य करता है। वह जानता है, परिवार मे कलह नहीं होना चाहिए, कोई भी सदस्य लडे नही फिर भी कलह होते है, लडाइया

होती हैं। व्यक्ति को इसमे रस आता है। यह है सवेग और विवेक का सघर्ष। यह रीजनिंग माइड और इमोशन का सघर्ष है। रीजनिंग माइड कहता है, ऐसा नही करना चाहिए, यह जीवन के लिए अच्छा नही है किन्तु इमोशन का दवाव पडता है आदमी वैसा कर लेता है, जानबूझ कर लेता है। आदमी नही करना चाहता पर जब इमोशन—सवेग हावी होता है तब आदमी भूल कर वैठता है। यह बहुत बडा सघर्ष है। इनके सारे केन्द्र भिन्न-भिन्न है।

शिक्षा का उद्देश्य है कि विद्यार्थी का सर्वागीण विकास हो। इसके लिए मस्तिष्क के उन सभी केन्द्रो को सक्रिय करना होगा जो उन-उन गुणों के मूल स्रोत है। जव कुछ केन्द्र सोए रहते है और कुछ जागृत हो जाते है, तव सर्वागीण विकास नही हो सकता। सर्वागोण विकास मे यह माना जाता है कि व्यक्ति का शरीर स्वस्थ हो, मन सतुलित हो, बुद्धि विकसित हो और भावना शुद्ध हो। इन चारो की जरूरत है। इनके सतुलित विकास को सर्वागीण विकास नही कहा जा सकता, एकागी विकास कहा जाएगा। एकागी विकास मे समस्याए अधिक उभरती है। एकांगी विकास चाहे धर्म का हो या वुद्धि का हो, उससे समाज-व्यवस्था नही चल सकती। धर्म या अध्यात्म के एकागी विकास से कोई गुफा मे बैठकर साधना तो कर सकता है पर समाज-व्यवस्था को नही चला सकता। समाज के व्यवस्थित संचालन के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चारो पुरुषार्थ अपेक्षित माने जाते है। धर्म और मोक्ष को नही छोडा जा सकता तो अर्थ और काम की उपेक्षा भी नही की जा सकती। समाज में सबकी अपेक्षा है। इनका सतुलन चाहिए। एकागी धार्मिक विकास भी कभी-कभी अन्धविश्वास में बदल जाता है। अतः चारो का समन्वित विकास ही समाज को स्वस्थ रख सकता है।

मस्तिष्क के सभी उत्तरदायी केन्द्रो को एक साथ सक्रिय करना जरूरी है, जो वास्तिविक मूल्यो के मूल स्रोत है। यही जीवन-विज्ञान की परिकल्पना का आधार है।

आज वौद्धिक विकास के लिए अलग से हमे चिन्तन करने की आवश्यकता नही है, क्योंकि आज के शैक्षणिक सस्थानो मे वौद्धिक विकास के लिए वहुत कुछ किया जा रहा है और उसके सुपरिणाम भी आ रहे हैं। यह सोचा जा सकता है कि विद्यार्थी की ग्रहण-शीलता को कैसे वढाया जा सकता है। इसके अनेक प्रयोग जीवन-विज्ञान प्रणाली के साथ जुडे हुए है। वल्गेरिया मे 'सुपर लरनिंग' की प्रणाली चलती है। उसका वहां वहुत विकास हुआ है। डा० लाजरनाव ने इसका विकास किया और इस पद्धति के द्वारा शीघ्र-ग्रहण की पद्धति विकसित हुई। एक पूरा क्रम चलता था सजेस्टोलॉजी का। इसके लिए एक केन्द्र स्थापित किया गया और विद्यार्थी मे इतनी क्षमता पैदा कर

दी कि वह वर्ष भर का कोर्स एक महीने मे पूरा कर देता है। वह दिनभर मे ५००-७०० शब्द कण्ठस्थ कर लेता है। इसका विकास वहाँ किया गया। जीवन-विज्ञान मे भी इस बात पर ध्यान दिया गया कि विद्यार्थी मे ग्रहण करने की क्षमता बढ़ाई जाए। जैन साहित्य मे शिक्षा के बारे मे अनेक सूत्र आए है। इसे दूसरे शब्दो मे अवधान विद्या कहा जाता है। अवधान मे क्षिप्र ग्रहण ही नही होता, बहुविध-ग्रहण भी होता है, सूक्ष्म-ग्रहण भी होता है। उपाध्याय यशोविजयजी अवधान विद्या के निपुण प्रयोक्ता थे। एक बार एक-सी सौ कटोरियां रख दी गई। एक व्यक्ति उनको एक-एक कर बजाता और अवधानकार उन कटोरियो के शब्दो को ग्रहण करते। सौ कटोरियो का बजाना पूरा हुआ। फिर परीक्षा ली गई। बीच मे से किसी भी कटोरी को बजाकर पूछा गया कि उसकी सख्या कौनसी है? आवाज के आधार पर सख्या बताई, वह सही निकली। यह है सूक्ष्म-ग्रहण की विधि। इसी के आधार पर आवाज का अलग-अलग ग्रहण हो गया।

क्षिप्रग्राही, सूक्ष्मग्राही, बहुविधिग्राही—ये सारे बौद्धिक विकास के परिचायक है। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण है चरित्र के विकास की ओर ध्यान देना। चरित्र-विकास के कुछ पहलू है। नैतिकता का विकास, व्यवहार-शुद्धि का विकास और अनुशासन का विकास—ये सारे चरित्र-विकास के तत्त्व है। चाहे सुपर लरनिंग की बात हो या जीवन-विज्ञान की बात हो, केवल सैद्धातिक पक्ष से काम नही चलता, प्रयोगात्मक पक्ष आवश्यक होता है।

मस्तिष्क के मूल स्रोतो को प्रशिक्षित करना प्रयोगात्मक पक्ष है। जो निष्क्रिय है उन्हे सक्रिय करना, जो सुप्त पडे है उन्हे जागृत करना—यह प्रयोग से सबंधित है। प्रयोग प्रथम कक्षा से ग्यारहवी कक्षा तक चलेगा। उसमे सिद्धात केवल उतना ही है जितना कि उन प्रयोगो को समझने के लिए जरूरी है। हम सोचते है कि प्राचीन चिन्तन की व्याख्या के लिए विज्ञान का सहारा जरूरी है। इसलिए जीवन-विज्ञान के सैद्धातिक पक्ष की व्याख्या के लिए प्राचीन और अर्वाचीन—सभी विधाओ का उसमे समावेश किया गया है।

प्रयोग की पहली बात है—तनाव से मुक्ति। विद्यार्थी मे ग्रहणशीलता तब बढ़ेगी जब वह तनावमुक्त होगा। तनाव चाहे शारीरिक हो, मानसिक या भावनात्मक हो, तनाव के रहते क्षमता नही बढ सकती। इसलिए पहली बात है—तनावमुक्ति। सूपर लरनिंग मे भी यही कराया जाता है। सत्य एक होता है। सत्य को कभी देशकाल मे बाटा नही जा सकता। सत्य देशातीत और कालातीत होता है। वह त्रैकालिक है। हम जिसे कायोत्सर्ग कहते हैं, अन्यत्र उसे रिलेक्सेशन कहा जाता है। इससे शारीरिक तनाव विसर्जित हो जाता है। शरीर मे कही तनाव नही रहता। मस्तिष्क तनाव रहित होता है तब

ग्रहण की क्षमता बढ़ जाती है। जब विद्यार्थी तनाव से भरा रहता है तब वह कुछ नही पढ पाता। कायोत्सर्ग की अवस्था तनावमुक्ति की अवस्था है। उसमे उसकी पढने की शक्ति बढ जाती है। १०-२० शब्द याद करने वाला विद्यार्थी पचास शब्द करने लग जाता है।

दूसरा प्रयोग है—लयबद्ध श्वास। योग मे प्राणायाम का बहुत महत्त्व रहा है। धर्म का यह अनिवार्य अग है। प्रत्येक धर्म के साथ उपासना की पद्धति जुडी हुई है। वैष्णव लोग संध्या करते है। जैन लोग प्रतिक्रमण करते है। मुसलमान नमाज पढते है। वैष्णवो मे सध्या करना आज भी प्रचलित है, पर वे संध्या के वास्तविक मर्म को भूल गए है। सध्या के साथ शिथिलीकरण, प्राणायाम और रंगो का ध्यान प्रचलित था। नीला रग, लाल रग और श्वेत रग—इन तीनो रगो के साथ ब्रह्मा, विष्णु और महेश की कल्पना थी। संध्या रह गई और तीनो रगो के प्रयोग छूट गए। जैनो मे भी प्रतिक्रमण रह गया और उसमे श्वास के साथ पाठ करना, उच्चारण करना छूट गया।

प्राणायाम मस्तिष्कीय विकास के लिए अनिवार्य प्रक्रिया है। इससे मस्तिष्क के सुप्त और निष्क्रिय केन्द्र जागृत और सक्रिय होते है।

लयबद्ध श्वास से मस्तिष्क की सुप्त शक्तिया जागती है। सारा तत्र उससे प्रभावित होता है। लयबद्ध चलना, बोलना, श्वास लेना—ये शक्ति-जागरण के प्रेरक तत्त्व हैं। जीवन विज्ञान की प्रणाली मे इसको बहुत महत्त्व-पूर्ण माना गया है। सुपर लरनिंग पद्धति मे भी इसका समावेश है।

जीवन-विज्ञान पद्धति के तीन मुख्य आधार है—कायोत्सर्ग, समवृत्ति-श्वास और अनुप्रेक्षा। पश्चिमी जगत् मे जिसे सजेशन, ऑटो-सजेशन कहा जाता है, वह अनुप्रेक्षा का ही रूप है। चिकित्सा के क्षेत्र मे पहले सजेशन का प्रयोग होता था। आजकल सम्मोहन का प्रयोग होने लगा है। आज शल्य-चिकित्सक एनेथेसिया का प्रयोग करते है। कुछेक शल्य-चिकित्सक सम्मोहन के द्वारा बडे-बडे ऑपरेशन कर देते हैं। इससे न बीमार व्यक्ति को कोई कष्ट होता है और न डॉक्टर को। संदेश देना, सुझाव देना, अनुप्रेक्षा करना, भावना से भावित करना—ये सब भारतीय योगविद्या के अग हैं। इनसे मस्तिष्क की शक्तियो को जगाया जा सकता है। इनके प्रयोग हुए हैं और सुपर लरनिंग वालो ने इससे लाभ उठाया है।

पश्चिम जर्मनी का एक डॉक्टर सामुद्रिक यात्रा पर निकला। नब्बे दिन की यात्रा थी। उसने यात्रा के पहले दिन से ही ऑटो-सजेशन देना प्रारम्भ कर दिया कि मुझे उस किनारे पर पहुंचना है। उसने इस वाक्य को जाप का-सा रूप दे दिया। अनेक कठिनाइयो के उपरांत भी वह सकुशल उन किनारे पर पहुंच गया। उसे अपनी पहुंच पर स्वयं को आश्चर्य हुआ।

हम जिन भावना से अपने मन को भावित करेंगे, वह घटना अवश्य

घटित होगी। राजस्थानी भाषा मे एक कहावत है—रोतो-रोतो जावै तो मरियेडा की खबर लेर आवै—जो रोते-रोते जाएगा, वह मरे हुए की खबर लेकर ही आएगा और जो सकल्प और दृढ निश्चय के साथ चलेगा, वह शुभ संवाद लेकर आएगा। यह आतरिक प्रक्रिया है। हमारे स्वभाव का निर्माण करने वाले न्यूक्लीड एसिड आदि जो रसायन है हम उन्हें सजेशन या संकल्प-शक्ति के द्वारा बदल सकते है जब रसायन बदलते है। तो सारी क्रियाएं बदल जाती है।

सजेशन की पद्धति का ही नाम है – अनुप्रेक्षा पद्धति। इसका मूल तत्त्व है—अभ्यास। इससे स्वभाव, चरित्र और व्यवहार को वदला जा सकता है। इसके लिए अभ्यास जरूरी है। केवल सिद्धान्त को जानने मात्र से असर नही होता, परिणाम नही आता। आज अहिंसा के सिद्धान्त को जानने वाले वहुत है, पर उसको जीने वाले वहुत कम है। इसीलिए अहिंसा की चर्चा करने वाले अधिक हिंसा और परिग्रह मे लिप्त पाए जाते है। प्रत्येक धर्म का अभ्यास अपेक्षित होता है। तभी वह जीवन मे रूपान्तरण घटित करता है। अनुप्रेक्षा के लिए भी यही वात है। आप कायोत्सर्ग की मुद्रा मे वैठकर अनुप्रेक्षा के वाक्य को पचास वार दोहराएं। दोहराते-दोहराते शब्द गौण हो जाए और उसके अर्थ के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाए। ऐसा होने पर वह सस्कार हमारे मे सक्रिय हो जाएगा। यदि यह अभ्यास तीन महीने तक निरन्तर चलता है तो वांछित परिणाम आ सकता है। यह तव केवल सिद्धात नही रहेगा, जीवन का व्यवहार वन जाएगा। प्रयोग के द्वारा ही सिद्धान्त को व्यावहारिक वनाया जा सकता है।

वौद्धिक विकास के लिए भी वच्चे शब्दों को दोहराते है। दस-वीस वार दोहराने से वे शब्द कठस्थ हो जाते है। इसी प्रकार संस्कार का निर्माण करने के लिए शब्दो को हजार वार दोहराना जरूरी है। अनुप्रेक्षा का अर्थ है—पुनरावृत्ति करना। इसे भावना कहा जाता है। आयुर्वेद में भावना का वहुत प्रचलन है। उसमे सौ भावनाओ से भावित, हजार भावनाओं से भावित आदि औषधिया होती है। उनके परिणाम मे वहुत वडा अन्तर आ जाता है। जैसे-जैसे औपधि भावित होती जाती है, सूक्ष्म होती जाती है, वैसे-वैसे उसकी शक्ति वढती जाती है यह सही है कि आवृत्तिया वढेंगी, उतनी ही क्षमता वढेगी। वह आवृत्ति एक फ्रीक्वेन्सी मे चलती है तो क्षमता मे संवर्धन होता है। यह अनुप्रेक्षा का ही प्रयोग है।

जीवन-विज्ञान सैद्धान्तिक नही, प्रयोगात्मक पद्धति है। इसके द्वारा विद्यार्थी मे वौद्धिक विकास, स्मृति का विकास और भावनात्मक विकास होता है। इसका मौलिक सूत्र है—वौद्धिक और भावनात्मक विकास का सतुलन। इसके स्थापित होने पर शिक्षा जगत् की अनेक समस्याएं समाहित हो जाती हैं।

नैतिकता की समस्या

सत्य की खोज का एक प्रयोग चल रहा है। उसमे सारे सहभागी हो रहे है। दर्शन और चिंतन का काम केवल जानना नही है। वास्तव मे उसका काम है जानना और करना। दोनो विभक्त नही है। सस्कृत साहित्य में जानने के अर्थ मे करना और करने के अर्थ मे जानना आ जाता है। जितनी गत्यर्थक धातुए है, वे सब ज्ञानार्थक भी है। 'गम् धातु गति के अर्थ मे है। गति एक क्रिया है। ज्ञान और क्रिया को कभी अलग नही किया जा सकता। सबसे वडी कठिनाई यह रही कि आदमी ने सिद्धान्त को बहुत महत्त्व दे डाला और प्रयोग को भुला दिया। पीछे कोरा ज्ञान बच गया। वह लंगडा हो गया, एकाक्ष वन गया। दो पैर, दो हाथ, दो आखे, दो कान, दो नथुने होते है तो काम ठीक होता है। बाया और दायां—ये दोनो शक्ति के स्रोत है। दाए को छोडकर वाए की शक्ति नही होती और वाए को छोड़कर दाए की शक्ति नही होती।

कहा जाता है कि समाज की सबसे वडी समस्या है अनैतिकता की। यह दूसरे नम्बर की समस्या है। मुख्य समस्या है—ज्ञान और क्रिया की दूरी, कथनी और करनी की दूरी।

एक साधु ने युवक से कहा—'तुम व्यसनो मे फसे हुए हो, शराव पीना और चोरी करना छोड दो। अन्यान्य व्यसन भी छोड दो।' युवक बोला—'छोड दूगा।' सन्यासी ने जिस चीज को छोड़ने के लिए कहा, युवक स्वीकृति देता गया। सन्यासी को आश्चर्य हुआ। अत मे सन्यासी बोला तुम झूठ बोलना छोड दो। युवक बोला—यह तो नही छोड सकता। सन्यासी ने कहा—यदि झूठ बोलना नही छोड़ सकते तो कुछ भी नही छोड सकते। तुम दूसरी चीजे छोडो या न छोडो, झूठ बोलना छोड़ दो।

मूल समस्या है, कथनी-करनी या ज्ञान और क्रिया की दूरी की समस्या। यदि यह दूरी न रहे तो नैतिकता का अवतरण अपने आप हो जाता है। आचार्य तुलसी ने जब अणुव्रत आन्दोलन का प्रवंतन किया तब कहा था—समाज मे अनैतिकता है, यह मुझे गभीर समस्या नही लगती। गभीर बात यह है कि नैतिकता के प्रति आदमी की आस्था नहीं रही। वह यही कहता है, 'नैतिकता से काम नही चलता।' यह सबसे बडा खतरा आ गया है। आस्था जब डिग जाती है तब नैतिकता नही रह सकती। आस्था जब टिक जाती है, तब अनैतिकता नही रह सकती। आस्था के दृढ होने पर न

नैतिकता का प्रश्न उठता है और न अनैतिकता का। आदमी सहज शुद्ध हो जाता है। किन्तु जब यह कहा जाने लगना है कि नैतिकता से काम नही चलता, ईमानदारी से काम नही चलता तब नैतिकता को जीवित करने का प्रयास ही समाप्त हो जाता है। इसलिए आस्था का निर्माण होना बहुत जरूरी है। समाज के सभी लोग चाहते है कि अनैतिकता मिटे, क्योकि सबको उसकी कठिनाई महसूस होती है। अनैतिक आचरण करना कोई नही चाहता, पर करते सब है। सारा समाज अनैतिकता के इस चक्रव्यूह मे फंसा हुआ है। वह चक्रव्यूह मे फंस तो गया पर उसका भेदन करना नही जानता। वह कैसे बाहर निकले, यह एक प्रश्न है। जिस समाज मे नैतिकता का विकास नही होता, वह समाज प्रगति नही कर सकता।

अनैतिकता से सारा राष्ट्र आक्रात है। उसे कैसे मिटाया जाए? नैतिकता को जागृत करने के दो क्षेत्र है—धर्म का क्षेत्र और शिक्षा का क्षेत्र। इन दोनों क्षेत्रो से विद्यार्थी मे संस्कार आ सकते है। यही विद्यार्थी का निर्माण हो सकता है।

आज धर्म के क्षेत्र मे अध्यात्म के बदले सम्प्रदाय अधिक है, नैतिकता और चरित्र की अपेक्षा उपासना की पद्धति पहले स्थान पर बैठी है। यदि इस समस्या को धर्म नही सुलझा सकता है तो हम उससे बडी आशा नही कर सकते। शिक्षा के क्षेत्र मे यदि अभ्यास-क्रम से विद्यार्थी को कुछ मिल जाए तो कुछ समाधान हो सकता है पर शिक्षा जगत् की भी अपनी कठिनाई है। आज का शिक्षाशास्त्री, शिक्षक, शिक्षण सस्थाएं या अन्यान्य सस्थान जो शिक्षा की दिशा मे काम कर रहे है, उनकी भी यही धारणा है कि विद्यार्थी को बौद्धिक विकास पूरा करा दिया जाए। टेक्नोलॉजी और इन्टलेक्ट को जितना महत्त्व मिल रहा है उतना महत्त्व चरित्र-निर्माण या समाज-व्यवस्था के घटको के निर्माण को नही दिया जा रहा है, क्योकि वे उस ओर ध्यान ही नही दे पा रहे है और उनके सामने इसका स्पष्ट चित्र भी नही है।

भारत सरकार के शिक्षा मत्री के० सी० पत आचार्यश्री से मिले थे। शिक्षा के विषय मे लबी चर्चा चली। वे बोले, शिक्षा की समस्या बहुत बडी समस्या है। हम शिक्षा की प्रणाली को परिवर्तित करना चाहते है, लेकिन कोई मार्ग नही मिल रहा है। हमारे सामने स्पष्टता नही है। हम अनेक कोणो से सोच रहे है। बातचीत लबी चली हमने उन्हे जीवन-विज्ञान की पद्धति से परिचित कराया। वे बोले—यह तो बिलकुल नई बात है। अभी तक हमारे सामने कोई नई बात आई ही नही। आपने जीवन-विज्ञान की नई बात सुझाई है। मै भी विज्ञान का विद्यार्थी रहा हू। मै इस बात को बहुत गहराई से पकड रहा हू। यह पद्धति हमारे लिए कार्यकर हो सकती है।

शिक्षामत्री के साथ शिक्षा के विभिन्न पहलुओ पर चर्चा चली। जीवन

विज्ञान की पद्धति मे उन्हे शिक्षा सबंधी समाधान दीखने लगा ।

यह सब अनुभव कर रहे है कि सामाजिक व्यवस्थाओ को सुचारु रूप से चलाने के लिए कुछ तत्त्व अपेक्षित है । यह भी सब जानते हैं कि समाज की व्यवस्था और शिक्षा की व्यवस्था—इन दोनो मे गहरा सबंध है । शिक्षा का काम है ऐसे व्यक्ति तैयार करना जो समाज-व्यवस्था के प्रेरक बन सकें और उसको ठीक ढग से चला सके । जीवन-विज्ञान की शिक्षा पद्धति में सैद्धान्तिकता कम है और अभ्यास अधिक है। उसका समाज-व्यवस्था में तालमेल हो सकता है ।

आज तीनो विकास एक साथ अपेक्षित है—बौद्धिक विकास, शिल्प कौशल और भावात्मक विकास । कमी है भावात्मक विकास की। इसके अभाव मे दोनो विकास बहुत साथ नही देते ।

आचार्यश्री दिल्ली मे थे । वहां डॉक्टर कोठारी, केन्द्रीय विज्ञान समिति के अध्यक्ष तथा प्रयोगशाला के अध्यक्ष आदि पाच-सात व्यक्ति आए । चर्चा चली कि वैज्ञानिकता और बौद्धिकता का इतना विकास होने पर भी नैतिकता और चरित्र की समस्या क्यो है ? आज का वैज्ञानिक छोटी-मोटी बात मे उलझ जाता है और आत्महत्या जैसा जघन्य कार्य भी कर लेता है । यह शिक्षा के सामने बहुत बडा प्रश्न है कि आखिर शिक्षा की निष्पत्ति क्या है ? क्या आत्महत्या ही शिक्षा की निष्पत्ति है ? सोचने-समझने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि बौद्धिक विकास के हो जाने पर भी भावात्मक विकास—एमोशनल विकास के अभाव मे जघन्यतम अपराध घटित हो सकता है। भावात्मक विकास का ज्वलत प्रश्न सबके सामने है ।

भारत के ऋषि-महर्षियो ने, आचार्यो ने व्यक्तित्व के रूपान्तरण के लिए, उच्च चेतना को जगाने के लिए अनेक उपाय खोजे थे । उन्होने शरीर पर बहुत ध्यान दिया, क्योकि शरीरतंत्र मुख्य तंत्र है । चेतना भी तो शरीर के भीतर ही है । शरीर के बिना चेतना की अभिव्यक्ति कहां हो सकती है ? उन्होंने शरीर मे ऐसे केन्द्र खोजे जहा व्यक्ति के बदलने की प्रक्रिया प्रारंभ होती है । ऐसे केन्द्र दो-चार नही, सैकडो केन्द्र खोजे गए, जिनके द्वारा वृत्तियो का परिवर्तन किया सकता है, स्वभाव को बदला जा सकता है ।

श्वासप्रेक्षा, शरीरप्रेक्षा और चैतन्यकेन्द्रप्रेक्षा—ये तीनो रूपान्तरण घटित करने के महत्त्वपूर्ण स्रोत है । सिद्धान्तत. हम इन्हे जानते है, पर इनका अभ्यास बहुत जरूरी है ।

पति-पत्नी जा रहे थे । रास्ते मे एक भिखारी मिला। उसने कुछ मागा । पति ने जेब मे हाथ डाला, पर जेब मे कुछ था नहीं । इनमे इतनी उदारता थी कि कोई मागे और कुछ न दिया जाए तो वे खिन्नता का अनुभव करते थे । उनके हाथ मे एक थैला था । उसमे चादी का कटोरा था । उन्होने

चांदी का कटोरा भिखारी को दे दिया। पत्नी ने कहा—अरे, यह क्या कर डाला ? भिखारी को चांदी का कटोरा दे दिया ! पति ने कहा—मैंने तो देखा ही नही कि कटोरा चादी का है या पीतल का। चांदी का था तो अच्छी बात है। मैं यह अभ्यास कर रहा हू कि मेरे हाथ से यदि कीमती चीज भी चली जाए तो कोई हैरानी, खिन्नता न आए। जो दे दिया, वह दे दिया। मैं प्रयोग कर रहा हूं।

जो धर्म प्रयोगात्मक था, अभ्यासात्मक था, वह छूट गया। आज का विद्यार्थी केवल पढता है। वह मनन नही करता। उसके पास मनन करने के लिए समय ही नही है। मनन के बिना आचरण की बात प्राप्त नहीं होती। पढ़ना, मनन करना, आचरण करना—ये तीनो अभ्यासात्मक है। इनकी समन्विति से ही धर्म या नैतिकता जीवन मे अभिव्यक्ति पाती है।

जीवन-विज्ञान की प्रणाली मे जो ध्यान के आन्तरिक प्रयोग कराए जाते है, वे आदेश से होने वाले प्रयोग नही है। प्रारम्भ मे आदेश का पालन करना होता है, फिर वह प्रयोग अपना हो जाता है, आत्मिक हो जाता है। तब आदेश गौण और अन्तर का प्रभाव मुख्य हो जाता है। जब तक कोई भी पद्धति आत्मिक नही बन जाती, तब तक आदमी उसको करता तो है पर उसमे रस नही आता, उससे तादात्म्य स्थापित नही होता। तादात्म्य स्थापित हुए बिना घटना घटित नही होती।

ध्यान से व्यक्ति बदलता है। उसमे नैतिकता के प्रति आस्था का जागरण होता है और तब वह अनैतिकता की परिस्थिति उपस्थित होने पर भी अनैतिक आचरण नही करता।

प्रारभ से ही यदि विद्यार्थी को नैतिक घटनाओ के सदर्भ मे शिक्षा दी जाए तो नैतिकता के सस्कार उसमे प्रतिष्ठापित हो सकते है। फिर वह जीवन के किसी भी क्षेत्र मे अनैतिक नही बनता।

विधायक भाव

भोजन करते है, भूख मिटती है। पानी पीते है, प्यास बुझती है। हमें सुख का अनुभव होता है। ,सुख रोटी से मिला, पानी से मिला, और कही से आया या हमारे भीतर से निकला ? इस प्रश्न की गहराई मे जाने पर ज्ञात होगा कि भूख मिट जाने पर या प्यास बुझ जाने पर भी सुख नही मिलता। इसलिए रोटी खाने और सुख के मिलने मे अनुवध नही है। उनमे व्याप्ति नही है कि एक के होने पर दूसरा हो ही। पदार्थ के मिल जाने पर भी सुख नही होता और न मिलने पर भी सुख हो सकता है। पदार्थ और सुख में कोई व्याप्ति नही है, कोई निश्चित नियम नही है कि ऐसा होने पर ऐसा होता ही है और न होने पर नही होता। एक आदमी वहुत सपन्न है। पास मे करोडो का धन है, पर स्वास्थ्य ठीक नही है। वह दुख ही भोगता है। एक वहुत वडे उद्योगपति के घर की महिला ने एक वार कहा—'महाराज ! मैं अत्यन्त दुखी हू।' यह सुनकर सवको आश्चर्य हुआ। पदार्थो के अवार लगे हुए है, सारी सुख-सुविधाओ के साधन प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है, फिर दुःख किस वात का ? उसने कहा—'पति चल बसे। लडके संपत्ति के वटवारे के लिए परस्पर मे लड रहे है। घर मे प्रतिदिन कलह और सघर्ष होता है। यही दुख है।'

ऐसी घटनाओ के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि पदार्थ का सुख के साथ अनुवंध नही है। सुखका सवध हमारे सवेदन के साथ है।

मैं यह दार्शनिक चर्चा इसलिए कर रहा हू कि विद्यार्थी का दृष्टिकोण विधायक वनना चाहिए। उसमे विधायक भावो का विकास होना चाहिए। उसमे विधायक दृष्टि का वीज-वपन होना चाहिए। एक दृष्टि से सुख-दु.ख की यह परिभाषा की जा सकती है कि विधायक भाव का अर्थ है सुख और निषेधात्मक भाव का अर्थ है दुख। भय, अहकार आदि निषेधात्मक भाव है। ये सारे दु.ख हैं। करुणा, प्रेम, सहृदयता आदि विधायक भाव हैं। ये सारे सुख है। वह समाज और व्यक्ति विकासशील वनता है जिसे विधायक भाव उपलब्ध हैं। जिसमे निषेधात्मक भाव है, वह समाज या व्यक्ति कभी विकास नही कर सकता। उसमे सदा निराशा वनी रहती है। वैसे व्यक्ति उदासी, निराश और वैचेनी से ग्रस्त होते है। वे व्यक्ति प्रत्येक वात मे कमी निकालेंगे, बुराई खोजेगे।

कृष्ण ने युधिष्ठिर और दुर्योधन से कहा कि द्वारका मे अच्छे आदमी

कितने है और बुरे आदमी कितने है, इनकी सूची बनाकर लाओ। कुछ दिन बीते। दोनो व्यक्ति कृष्ण के पास आए। दोनो के पन्ने खाली थे, उन पर कुछ भी लिखा हुआ नही था। दुर्योधन को पूछने पर उसने कहा—महाराज ! मैं पूरे नगर मे घुमा, पर मुझे एक भी अच्छा आदमी नही मिला, इसलिए मैं क्या लिखता ?' युधिष्ठिर ने कहा—महाराज ! मेरी भी यही समस्या है। मै भी नगर मे खूब घूमा, पर मुझे एक भी बुरा आदमी नही मिला। अब मै क्या लिखता ?

दुर्योधन का उत्तर निषेधात्मक भाव का प्रतीक है और युधिष्ठिर का उत्तर विधायक भाव का प्रतीक है। विधायक दृष्टिकोण से सपन्न व्यक्ति को बुराई नही दीखती और निषेधात्मक दृष्टि वाले व्यक्ति को अच्छाई का पता नही चलता। जहा निषेधात्मक दृष्टि होती है वहां कलह, सघर्ष और लड़ाइया पैदा होती हैं। सारी उलझने इसी की उत्पत्ति है।

व्यक्ति के भाव ही अच्छाई और बुराई के लिए, सुख-दु.ख के लिए जिम्मेवार है। यदि प्रारभ से ही भावो को सही दिशा मिल जाए तो शायद सुख का सागर हिलोरे लेने लग जाए।

कबीर के पास एक युवक आकर बोला—"आप बडे अनुभवी है। मुझे एक परामर्श दे कि मैं गृहस्थी मे रहू या संन्यासी बन जाऊ ? कबीर ने कहा—थोडी देर बैठो। मैं फिर बताऊगा।'

थोडा समय बीता। मध्याह्न की वेला थी। कबीर ने अपनी पत्नी को बुलाया। पत्नी उपस्थित हुई। कबीर ने कहा—दीपक जलाकर लाओ।" पत्नी तत्काल गई और दीपक जलाकर ले आई।

युवक ने सोचा, सूरज तप रहा है। सर्वत्र प्रकाश है। फिर दीपक का क्या प्रयोजन है ? कैसा आदमी है कबीर ? मुझे क्या मार्गदर्शन देगा ?

कुछ समय बीता। कबीर युवक को साथ ले जंगल मे गए। वहां नब्वे वर्ष का सन्यासी रहता था। कबीर सन्यासी की कुटिया मे गए। संन्यासी को प्रणाम कर पूछा—आपकी अवस्था कितनी है ? सन्यासी बोला—मैं ९० वर्ष का हू। कबीर वहां से कुछ दूर गए और पुन : लौट कर सन्यासी से पूछा —महात्मन्। आपकी अवस्था कितनी है ? सन्यासी ने फिर वही उत्तर दिया। तीसरी बार पुन. कबीर ने पूछा— आपकी उम्र कितनी है। सन्यासी ने उसी प्रेमभाव से उत्तर दिया। कबीर ने पाच-सात बार वही प्रश्न पूछा और सन्यासी ने उसी शांतभाव से उत्तर दिया। यदि कोई दूसरा होता तो शीतलप्रसाद का ज्वालाप्रसाद बन जाता।

कबीर ने युवक से पूछा—मिल गया उत्तर तुम्हारे प्रश्न का ? युवक बोला—मैं तो कुछ भी नही समझ पाया। कबीर बोले—यदि तुम गृहस्थी बसाना चाहो तो वैसे बनो कि दुपहरी मे भी चिराग जलाने को कहने पर

पत्नी ननुनच न करे और चिराग जलाकर रख दे। यदि तुम संन्यासी बनना चाहो तो ऐसे संन्यासी बनो कि क्रोध आए ही नही।

विधायक भाव के कारण ऐसा होता है। जब इसकी प्रबलता होती है तब जीवन में आनन्द ही आनन्द होता है, सुख ही सुख होता है। घटनाओ के साथ हमारे सुख-दुःख का संबंध नही है। भ्रान्ति के कारण हम मानते हैं कि प्रिय घटना से सुख होता है और अप्रिय घटना से दुःख होता है। भारतीय दर्शनों ने इस भ्रान्ति को तोडने का प्रयत्न किया है। सुख-दुःख हमारी आन्तरिक अवस्था है। सुख-दुःख को पदार्थ के साथ जोड़ना बहुत बडी भ्रान्ति है।

अध्यात्म की खोज ने हमे बहुत बडा संबल दिया था, किन्तु आज वह शैक्षणिक जगत् का उपक्रम नही रहा, इसलिए दृष्टिकोण बदल गया। आज की यह बहुत बडी शिकायत है कि आदमी का दृष्टिकोण भौतिकवादी बन गया है और यही सारी समस्याओ का मूल है। प्रश्न है यह दृष्टिकोण क्यों बना? किसने बनाया? बनाने का दायित्व किस पर है? उत्तर है कि दायित्व दो पर ही है—धर्म और शिक्षा जगत् पर। तीसरे पर यह दायित्व नही आता। दृष्टिकोण का निर्माण या तो धर्म के आधार पर होता है या शिक्षा के आधार पर होता है। दृष्टिकोण का निर्माण या तो धर्मगुरु करते है या शिक्षक करते है। भौतिकवादी दृष्टिकोण इसलिए बना कि आदमी ने सत्य की उपेक्षा की। यदि सत्य को समझने का और समझाने का प्रयत्न किया होता तो दृष्टिकोण की समस्या को सुलझाने में बडा सहयोग मिलता। आज जो समस्या नही सुलझ रही है उसका कारण है—मिथ्या-दृष्टिकोण।

आज के धार्मिक का दृष्टिकोण भी गलत है, क्योकि वह मान बैठा है कि सब कुछ धर्म से हो जाएगा। यह बहुत बड़ी भ्रान्ति है। धर्म से सब कुछ कैसे होगा? धर्म से केवल मानसिक शाति मिल सकती है, आनन्द और सुख मिल सकता है। हम धर्म को पदार्थ मान बैठते हैं। यह कितना विपर्यय है। धर्म से मिलता है आन्तरिक आनन्द और हमने मान लिया कि धर्म से पदार्थ मिलते है, सुख-सुविधाएं मिलती हैं। यह दृष्टिकोण की विपरीतता है। हमें मानना चाहिए कि धर्म की एक सीमा है और पदार्थ की भी एक सीमा है। पदार्थ से सुविधा मिलती है और धर्म से आनन्द मिलता है, आन्तरिक शांति मिलती है, मन शांत होता है। यदि यह दृष्टिकोण स्पष्ट हो तो धर्म के प्रति आस्था बढ़ेगी, पदार्थ की मूर्च्छा घटेगी, और भौतिकता की दौड कम होगी। यही विधायक भाव की निष्पत्ति है। शिक्षा जगत् यदि विद्यार्थियो को विधायक भावो के प्रति शिक्षित कर सके तो बहुत बड़ा कार्य हो सकता है। यह कार्य प्रारभ से ही करने का है। बच्चे विधायक भावो को जब पकड़ लेते है, तब उनके सस्कार अच्छे बनने मे विलंब नही होता। विधायक भावो का विकास होने पर शिक्षा जगत् की अनेक समस्याएं स्वयं समाहित हो जाएंगी।

विद्यार्थी-जीवन और ध्यान

ध्यान सत्य की खोज का उपाय है। एक वैज्ञानिक सत्य खोजता है, वह ध्यान के द्वारा ही खोजता है। जो ध्यान नही करता वह वैज्ञानिक नही होता। एकाग्रता के बिना सत्य को नही खोजा जा सकता। जब आइन्स्टीन से पूछा गया कि आपको सापेक्षवाद का सिद्धान्त कैसे मिला? उन्होने कहा—मैं नही जानता। एक दिन मै बगीचे मे घूम रहा था और मुझे अचानक वह सिद्धान्त प्राप्त हो गया। बुद्धि के बल पर सत्य का अवतरण नही होता। सत्य का अवतरण होता है एकाग्रता के द्वारा।

हम पवनार गए। आचार्यश्री ने विनोबा से पूछा—आप ध्यान कब करते है? विनोबा बोला—आचार्यजी! ऐसा मत पूछिए कि ध्यान कब करता हूं, ऐसा पूछिए कि ध्यान कब नही करता। विनोबा ध्यान मे सदा मग्न रहते थे। वे सत्यान्वेषी थे। क्षेत्र चाहे विज्ञान का हो या धर्म का हो या शिक्षा का हो, एकाग्रता या ध्यान बहुत आवश्यक है। बच्चो को एकाग्रता की शिक्षा और अभ्यास प्रारंभ से ही करा देना चाहिए। बच्चो मे चंचलता अधिक होती है। धीरे-धीरे उसे एकाग्रता मे ले जाना बहुत महत्त्वपूर्ण बात है।

ध्यान के पाच अंग है—वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता। वितर्क का अर्थ है—चित्त को एक आलबन पर टीका देना। ब्लेक बोर्ड पर एक शब्द लिख दिया और विद्यार्थी से कहा जाए कि इसी को पढो, इसी को देखो, इसी पर ध्यान टिकाने का अभ्यास करो। हमारा मन नाना आलबनों पर जाता है। कभी वह गेट को देखता है, कभी खिडकी को और कभी आदमी को। वह कभी कही और कभी कही भटकता रहता है। एक मिनिट मे दस-बीस आलबनो को बदल देता है। आलबनो के साथ-साथ चित्त की गति भी बदलती रहती है। इसलिए एक आलबन पर मन को टिकाने का अभ्यास कराना बहुत जरूरी है। यह ध्यान की पहली अवस्था है।

ध्यान का दूसरा अग है—'विचार'। इससे स्वरूप का बोध होने लगता है। जब श्वास पर ध्यान किया जाएगा तब श्वास के स्वरूप का बोध होने लगेगा। श्वास क्या है, यह स्पष्ट हो जाएगा। जब तक चित्त को श्वास पर नहीं टिकाया जाता तब तक श्वास की जानकारी नही हो सकती। मैंने एक भाई से कहा—अपना ध्यान कपड़े पर टिकाओ। उसे ध्यान से देखो। कुछ समय तक वह कपड़े को देखता रहा, फिर उसने कहा महाराज! कपड़े

को ध्यान से देखने पर कपडे का एक-एक तार मेरे सामने स्पष्ट हो गया और मुझे लगा कि कपड़ा सघन नही है, चालनीमात्र है। हम किसी भी वस्तु को एकाग्रता से देखेंगे तो हमे उसका वास्तविक स्वरूप दीखने लग जाएगा। यह है 'विचार' की अवस्था।

ध्यान का तीसरा अंग है—'प्रीति'। जहाँ जानना होता है वहां राग-द्वेप नही होता। जहां राग-द्वेप होता है, वहा जानना नही होता। राग समाप्त होता है, तव प्रीति पैदा होती है। द्वेष समाप्त होता है, तव प्रीति पैदा होती है। जव पदार्थ के साथ भी प्रीति पैदा होती है तव उसके साथ सही सम्वन्ध होता है। शुद्ध मैत्री का सम्बन्ध ही प्रीति का सम्वंध है।

ध्यान का चौथा अंग है—'सुख'। यह हमारे चैतन्य की अवस्था है। यहा कोई वाधा नही होती। इन्द्रिय जगत् मे वास्तविक सुख नही हो सकता। जव तक विषयासक्ति का अतिक्रमण नही होता, तव तक सुख नही होता। जव तक केवल सत्य के साथ जुडते है तव सुख पैदा होता है। यह वास्तविक सुख की अवस्था है। जव यह अवस्था व्यक्ति मे जागती है तव व्यक्ति यथार्थ मे शिक्षित होता है। उसी को शिक्षित व्यक्ति मानना चाहिए।

साक्षरता और शिक्षा एक वात नही है। दोनो अलग-अलग है।

एक संन्यासी आया। नगर मे डेरा डाला। वह किसी से कोई भेट नही लेता था। वह वहुत प्रसिद्ध हो गया। राजा ने उसकी गुणगाथा सुनी। उसने सोचा, क्या ऐसा सन्यासी हो सकता है जो कुछ भी नही लेता। यह ढोंग है, माया है। राजा ने उसकी परीक्षा करनी चाही। राजा वहुमूल्य उपहार लेकर संन्यासी के पास गया। सन्यासी आखे मूद कर ध्यान कर रहा था। कुछ समय वाद आखे खोली। सामने भेट से सजाए हुए थाल पडे थे। संन्यासी को प्रणाम कर राजा वोला—महाराज! मैं आपकी शरण मे आया हू। आप कृपाकर आशीर्वाद दे। मेरे राज्य का विस्तार हो, मेरा भण्डार वढे। मेरा परिवार वढ़े। मेरी यश और कीर्ति वढ़े। आप मेरी ये मागे पूरी करे। मेरी भेंट आप स्वीकार करे। सन्यासी वोला—मैं तुम्हारी भेंट नही ले सकता, क्योकि मैं केवल दाता की भेट लेता हू, भिखारी की नही। राजा वोला—आपने मुझे पहचाना नही, मैं राजा हू, भिखारी नही हूं। संन्यासी ने कहा—अरे, अभी-अभी तुम याचना कर रहे थे, माग कर रहे थे। मागने वाला दाता नही होता, भिखारी होता है।

साक्षरता से अक्षर-ज्ञान तो हो जाता है, पर शिक्षित होने के लिए और अधिक वाते अपेक्षित होती है।

जव सुख का साक्षात्कार होता है तव दुःख वहुत कम हो जाता है। प्राय. लोग सोचते है कि ससार मे दुःख अधिक है। मैं इस भ्रान्ति को तोडना चाहता हू। समस्याए दो प्रकार की होती है—यथार्थ और काल्पनिक। रोटी

की, कपड़े की और मकान की समस्याएं यथार्थ है। जीवन यापन की समस्या भी यथार्थ है। हम सोचें कि यथार्थ की समस्या का दुःख कितना है और काल्पनिक समस्या का दु.ख कितना है। हम लेखा-जोखा करे तो ज्ञात होगा कि काल्पनिक समस्याएं अधिक होती है। हम दु:ख का भार न ढोएं। जो दुःख का भार नही ढोता वह समस्याओ से आक्रान्त नही होता।

समस्या के समाधान का उपाय है—श्रमनिष्ठा, उत्पादक श्रम। यदि विद्यार्थी मे श्रमनिष्ठा और उत्पादक श्रम की मनोवृत्ति जागती है नो समस्या का समाधान होता है। यदि वह नही जागती है तो अनेक काल्पनिक समस्याएं और जुड जाती है। आदमी मे उत्पादक श्रम के प्रति कम निष्ठा है और फिजूल कार्य के प्रति अधिक उत्साह है। यदि शिक्षा जगत् इस मनोवृत्ति को वदलकर उत्पादक मनोवृत्ति पैदा कर सके तो उसका बहुत बड़ा अवदान हो सकता है। इसको वदला जा सकता है एकाग्रता और विधायक भाव के द्वारा। इन्ही के द्वारा यह चेतना पैदा की जा सकती है। यह सुख की चेतना है।

ध्यान का पाचवां अग है—'एकाग्रता'। सुख के वाद एकाग्रता की चेतना पैदा होती है। हम एकाग्रता से चले और एकाग्रता पर आकर स्थापित हो गए। हमने श्वास का आलम्वन किया और उसके स्वरूप को जानने के लिए विचार प्रारम्भ किया। फिर उसमे प्रीति पैदा हुई। वह अच्छा लगने लगा। फिर सुख मिला। जव सुख मिलने लगा तो उसमे एकाग्रता होने लगी। यह एक प्रक्रिया है, सत्य की खोज का मार्ग है। यदि विद्यार्थी मे प्रारम्भ से ही यह वृत्ति पैदा कर दी जाए तो उसका जीवन सफल हो सकता है। इसको हम एक निश्चय के साथ दोहराए कि किसी विपय पर स्थिर हुए विना, एकाग्रता स्थापित किए विना, विकास हो नही सकता।

बुद्धि और अनुभव का संतुलन

हम अपनी जीवन की धारा को दो तटो के बीच चला रहे है। एक है समस्या का तट और दूसरा है अपेक्षा का तट। अनेक समस्याएं है, जैसे—हिंसा तनाव, मानसिकता, अनैतिकता, मिथ्यादृष्टिकोण आदि। इनमे सबसे वडी समस्या है--मिथ्यादृष्टिकोण।

अव इनके लिए अहिंसा की अपेक्षा है। हिंसा बहुत बढ गई है। मनुष्य का दृष्टिकोण बन गया कि समस्या का समाधान हिंसा मे है। वह हिंसा को चुनता है। उसने हिंसा को ऐसा हथियार बना लिया है कि कही पर भी उसका उपयोग किया जा सकता है। हिंसा सर्वत्र व्याप्त है। प्रत्येक क्षेत्र, फिर चाहे वह राज्य का हो, राजनीति का या शिक्षा का हो, मे हिंसा का वोलवाला है। आज अहिंसा की अपेक्षा है। पर प्रश्न होता है कि वह आए कैसे ? इसके लिए आवश्यकता है दृष्टिकोण को बदलने की, चक्षुष्मान् वनने की। आज आंख की परम आवश्यकता है। अन्यान्य वस्तुए मिल सकती है पर आख का मिलना, दृष्टि का मिलना अत्यन्त कठिन है। आजकल आंख का प्रत्यारोपण होने लगा है, चक्षुदान भी प्रचलित है। इसीलिए आंख मिलने लगी है। आदमी को चक्षुष्मान् बनाने की प्रक्रिया शुरू हुई है। पर काम कठिन है।

एक वालक भीख माग रहा था। वह अंधा था। एक युवक ने उसको चोअन्नी दी और कहा—'वच्चे ! अभी से भीख मागने लग गए ? तुम अंधे हो। तुम्हारे आखें नही है। तुम पैसा क्यों मांगते हो, आंखे क्यो नही माग लेते ?' उसने कहा—भाई साहव ! आप ठीक कहते है। जिसके पास जो हो, वही तो मागता हूं। लोगो के पास पैसा है, आखे नही है। फिर मैं उनसे आखें कैसे मागू ?'

तीर्थंकर का एक विशेषण है—चक्खुदयाणं—चक्षुदाता, चक्षु देने वाले। दृष्टिकोण का वदलना ही चक्षुष्मान् होना है। हिंसा, अनैतिकता आदि सारी समस्याएं दृष्टिकोण के कारण उभर रही है। यदि दृष्टिकोण वदल जाए तो सारी समस्याओ का समाधान भी प्राप्त हो जाए।

जीवन-विज्ञान की प्रक्रिया की मूल फलश्रुति है दृष्टिकोण का परिवर्तन। भावात्मक रूपान्तरण उसका मूल उद्देश्य है। गौण रूप से उससे शरीर भी स्वस्थ होता है, वीमारियां भी मिटती है, साइको-सोमेटिक वीमारियां दूर होती हैं, और-और प्रासगिक लाभ भी होते हैं।

दृष्टिकोण बदल सकता है, यह हमारी आस्था है। जीवन-विज्ञान ने इस आस्था को जगाया है। यह आस्था भी दृढमूल हुई है कि आदत, स्वभाव और व्यवहार मे भी परिवर्तन आ सकता है। प्राचीन आचार्यों ने प्रत्येक वृत्ति को बदलने के लिए भिन्न-भिन्न उपाय निर्दिष्ट किए है। वे एकत्रित नहीं है, इधर-उधर बिखरे पडे है। खोजने वालो को वे प्राप्त होते है। क्रोध, अहंकार, भय आदि आवेगो को बदलने के लिए अनेक प्रयोग है। अनेक व्यक्तियो ने वे प्रयोग किए, परिणाम अच्छे आए और वे प्रयोग उन-उन वृत्तियो के परिष्कार के लिए निर्दिष्ट हो गए। यह क्रम पहले शिक्षा के साथ नही जुडा था, सामान्य आदमी के साथ जुडा था। उसमे सफलता मिली। तो फिर ऐसा लगा कि आज नैतिकता के लिए शिक्षा मे परिवर्तन हो रहा है। हमने सोचा, मनन किया, भारत सरकार के शिक्षामंत्री तथा राजस्थान सरकार के शिक्षामंत्री से विचार विमर्श हुआ। हमारा विचार था कि पुस्तक पढाने मात्र से नैतिक बन जाएं, ऐसा सभव नही लगता। फिर हमने प्रयोगो की चर्चा की, उनका एक्सपेरिमेट हुआ, अच्छे परिणाम आए और आज हम जीवन-विज्ञान की पद्धति को शिक्षा जगत् का दिशासूचक यत्र मान सकते है।

जीवन-विज्ञान के लिए एक शक्तिशाली वातावरण बना है। अच्छे-अच्छे व्यक्ति इसके साथ जुडे है। आत्म-विश्वास बढा है। कमजोर आदमी कुछ नही कर सकता। शक्तिशाली ही कुछ कर सकता है। शक्ति चाहिए। कमजोर व्यक्ति केवल भीख माग सकता है। शक्ति की पूजा के बिना कुछ नही होता।

जीवन-विज्ञान शिक्षा की पूरक कार्य-पद्धति है। मूल्यपरक शिक्षा को यह पूरी करती है। शिक्षा मे जो भावात्मक परिवर्तन तथा चरित्र-निर्माण का पक्ष गौण है, उसकी यह पूर्ति करती है। यह अभिमत पुस्तको के आधार पर नही बना है, किन्तु अनुभव के आधार पर बना है। अनुभव बुद्धि से परे होता है—

अहंकारो धियं ब्रूते, नैनं सुप्तं प्रबोधय।
उदिते परमानन्दे, नाहं न त्वं न वै जगत्॥

अहकार ने बुद्धि से कहा—अनुभव को मत जगाओ। उसके जाग जाने पर, न मैं रह पाऊंगा, न तुम रह पाओगी और न फिर ससार ही रह पाएगा।

बुद्धि से परे होता है—अनुभव। अनुभव के जाग जाने पर अनैतिकता का जगत् नही बचता। आज सारे लोग यही चाहते है कि अनुभव सोया ही रहे, बुद्धि जागती रहे। सारा भार बुद्धि पर लादा हुआ है। बेचारी बुद्धि सारा भार ढो रही है।

आज जितने अनपढ मूर्ख है, उनमे अधिक हैं पढे-लिखे मूर्ख। आवश्यकता है कि तराजू के दोनो पलडो मे समान वजन रखा जाए। बुद्धि और अनुभव का सतुलन होना आवश्यक है। अनुभव को जगाना अत्यन्त जरूरी है।

जीवन-विज्ञान : समाज के संदर्भ में

जीवन-विज्ञान : मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रणाली

१ मस्तिष्क मे असीम शक्ति है।

२. उसको जागृत किया जा सकता है।

३. शक्ति की जागृति तनाव और थकान के विना की जा सकती है।

४. मस्तिष्क विद्या के अनुसार मस्तक का वाया भाग तर्क, गणित, भाषा और भौतिक विचार के लिए उत्तरदायी है। उसका दायां भाग आध्यात्मिक जागृति, अन्तःप्रज्ञा, स्वप्न और कल्पना के लिए उत्तरदायी है। जीवन-विज्ञान की शिक्षा प्रणाली इन दोनो के संतुलित विकास की पद्धति है।

५. अनुकपी नाड़ीतंत्र (पेरासिंपेथेटिक नर्वस् सिस्टम) की अति सक्रियता से व्यक्ति आक्रामक, उद्दण्ड वनता है, वेचैनी का अनुभव करता है। परानुकपी नाड़ीतंत्र (सिंपेथेटिक नर्वस् सिस्टम) की अति सक्रियता से व्यक्ति डरपोक, दव्वू, हीनभावना से ग्रस्त होता है। यह स्नायविक असंतुलन है। जीवन-विज्ञान इन दोनों के सतुलन की पद्धति है।

६ विवेक (रीजनिंग माइंड) और सवेग (इमोशन) मे सघर्ष रहता है। विवेक कहता है यह काम गलत है, नही करना है। सवेग प्रवल होना है, उसे करा देता है। इसलिए ज्ञान और आचरण की दूरी वनी रहती है।

जीवन-विज्ञान संवेग की पद्धति है।

७. सवेद (सेंस एनर्जी) निरन्तर क्रियाशील रहते है, इससे शक्ति का वहुत अपव्यय होता है। अति सक्रियता से मस्तिष्क और मेरुदण्ड प्रणाली पर दवाव पडता है। उससे स्वचालित नाड़ीतंत्र की प्रणाली पर दवाव पडता है।

जीवन-विज्ञान सवेद-नियंत्रण की पद्धति है।

८. प्रमस्तिष्क (सेरेब्रम) मे शक्ति संचित है। अनुमस्तिष्क (सेरेबेलम) उसका नियंत्रण करने वाला है। उसके द्वारा शक्ति प्रवाहित होकर सुषुम्ना-शीर्ष (मेडुलाआवलांगेटा) मे जाती है। वहा से यह मेरु में जाती है। वहां से शरीर की सारी प्रक्रियाएं चालू होती है।

जीवन-विज्ञान के द्वारा चेतना-प्रक्रिया (कांसस एक्टिविटी) को कम कर विव प्रक्रिया (रिफ्लेक्स एक्टिविटी) को वढ़ाया जा सकता है, जिससे मस्तिष्क पर दवाव न पडे।

९. पीनियल ग्लैंड की निष्क्रियता से नियन्त्रण की क्षमता कम हो जाती है। थाइमस ग्लैंड की निष्क्रियता से आनन्द की अनुभूति में कमी आ जाती है, वाहर की ओर झुकाव वढ जाता है।

१०. व्यवहार और आचरण का मुख्य आधार भावधारा है। भाव दो भागो मे विभक्त है—विधेयात्मक (पोजिटिव) और निषेधात्मक (नेगेटिव)।

मनोविज्ञान के अनुसार इसका विश्लेषण इस प्रकार है—

विधेयात्मक

(आचार/व्यवहार)

भाव	व्यक्तित्व	परिणाम
विश्वास	उत्साही	सफलता
अभय	आशावादी	समादर
धैर्य	प्रसन्न	निश्चितता
सहिष्णुता	तनावमुक्त	आन्तरिक शांति
मृदुता	विनयशील	मैत्री
श्रद्धा	सहृदय	स्वस्थता
निष्ठा	सहानुभूतिपूर्ण	सुख
सामंजस्य	वीरतापूर्ण	विकास
पारस्परिक समझ	अनुशासनबद्ध	साहस
आदि-आदि	आदि-आदि	प्रेम आदि-आदि

निषेधात्मक

(आचार/व्यवहार)

भाव	व्यक्तित्व	परिणाम
घृणा	दुर्बल	कुण्ठा
ईर्ष्या	कठोर	निराशा
संदेह	उद्दण्ड	लाचारी
लोभ	नीरस	उद्विग्नता
माया	चिडचिड़ा	दु ख
दीनता/हीनता	रूखा	असफलता
छिद्रान्वेषण	आलसी	रुग्णता
अहं	डावाडोल	दरिद्रता
आग्रह	धोखेबाज	थकावट
द्वेष	स्वार्थी	ऊब
आदि-आदि	आदि-आदि	असंतोष आदि-आदि

जीवन-विज्ञान के द्वारा विधेयात्मक भाव का विकास कर निषेधात्मक भाव मे मुक्ति पाई जा सकती है।

तनाव की अवस्था मे ग्रहणशीलता और स्मृति प्रभावित होती है।

जीवन-विज्ञान तनावमुक्ति की प्रक्रिया है। इससे ग्रहण की क्षमता वढती है, स्मृति का सवर्धन और बौद्धिक विकास होता है। विद्यार्थी को कायोत्सर्ग (शिथिलीकरण) की अवस्था मे पढाया जाए तो वह अपने विपय को शीघ्र ग्रहण कर सकता है। यह शिक्षा की 'सद्योग्रहण' पद्धति है। इसमे विद्यार्थी को तन्द्रा की अवस्था मे ले जाना और अध्यापक द्वारा पाठ का लयबद्ध उच्चारण करना वहुत अपेक्षित है। वह उच्चारण सुझाव (सजेशन) के रूप मे प्रस्तुत किया जाए। इसमे सदेश-पद्धति वहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। उसके द्वारा चेतन और अचेतन मन के वीच सवाद स्थापित किया जा सकता है।

स्मृति-सवर्धन और ग्रहण-क्षमता का मौलिक आधार है—लयवद्ध श्वास। लयात्मक श्वास के द्वारा मस्तिष्क को पर्याप्त ऑक्सीजन मिल जाती है। जव मस्तिष्क कार्यरत होता है, तव उसे शरीर से तिगुने ऑक्सीजन की जरूरत होती है, लयबद्धश्वास के द्वारा मानसिक और भावनात्मक तनाव कम होता है, और ध्यान अपने भीतर की ओर आकर्षित होता है। पाठ पढ़ते समय श्वास का सयम (कुम्भक) हो तो वह अधिक प्रभावी वनता है।

जीवन-विज्ञान मस्तिष्क प्रशिक्षण की पद्धति है। उसके तीन अग है—

१ सवेद-नियत्रण पद्धति
२. सवेग-नियन्त्रण पद्धति
३ विचार-नियन्त्रण पद्धति

इमके साध्य तत्त्व सात है—

१. श्वास नियत्रण
२. शरीर नियन्त्रण
३. चैतन्य-केन्द्र जागरण
४. स्वभाव परिवर्तन
५. आभामडलीय निर्मलता
६. सामुदायिक चेतना का विकास
७. रचनात्मक शक्ति का विकास

इसके साधक तत्त्व पाच है—

१. श्वास-प्रेक्षा
२ शरीर-प्रेक्षा
३. चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा
४. अनुप्रेक्षा (सदेह और अनु-चिन्तन)
५. लेश्या-ध्यान (आभामंडल का ध्यान)

अनुप्रेक्षा मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रक्रिया है। उनमे पुनरावृत्ति की कमी है। सस्कार निर्माण के लिए एक मास से तीन मास तक प्रतिदिन ५०

से १०० आवृत्तिया की जाती है। शिक्षण के लिए ३२ से ५० आवृत्तिया करना आवश्यक है।

मस्तिष्क प्रशिक्षण प्रणाली के द्वारा मस्तिष्क और शरीर को प्रतिदिन नियन्त्रित (या सूचना द्वारा सूचित या निर्दिष्ट) कर स्वास्थ्य को नियमित किया जा सकता है।

इसके द्वारा व्यवसाय, खेलकूद, अन्तरिक्ष यात्रा, समुद्र यात्रा, पर्वतारोहण आदि विभिन्न क्षेत्रो मे कठिन प्रतीत होने वाले कार्य सरलतापूर्वक किये जा सकते है। इस प्रणाली के द्वारा अन्तःप्रज्ञा (इन्ट्यूशन) को विकसित कर अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये जा सकते है। व्यवसाय प्रबन्धक, राजनयिक, प्रशासन तत्र के अधिकारी, न्यायाधीश और कार्यपालिका के सदस्य—ये सभी इनसे लाभान्वित हो सकते है। पुलिस और सेना के लिए भी इसका बहुत मूल्य है। एकाग्रता, संकल्पशक्ति, नियन्त्रण की क्षमता और स्वभाव की पुनर्रचना—ये जीवन की उपलब्धिया है। जीवन-विज्ञान के प्रयोग द्वारा इन्हे प्राप्त किया जा सकता है।

जीवन विज्ञान : सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास का संकल्प

व्यक्ति समाज का एक अग है। वह सामाजिक जीवन जीता है। समाज के सदर्भ मे उसके जीवन का विकास होता है। व्यक्ति और समाज को सर्वथा अभिन्न नही किया जा सकता तो उन्हें सर्वथा भिन्न भी नही किया जा सकता। उनमे भेद का सूत्र है—वैयक्तिकता। वह समाज मे नही है। व्यक्ति की अपनी विशेषता है। उनमे अभेद का सूत्र है—तत्र! समाज मे तंत्रो का एक समवाय है—अर्थतत्र, राज्यतंत्र, व्यवसायतंत्र, शिक्षातंत्र, और धर्मतत्र। जीवन सचालन के लिए अर्थ, राज्य और व्यवसाय का तंत्र काम कर रहा है। जीवन विकास के लिए शिक्षा और धर्म का तंत्र काम कर रहा है। वर्तमान मे ये तंत्र संतुलित नही है। अर्थतंत्र के साथ अपरिग्रह या व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा जुडी हुई नही है। इसलिए वह असतुलित बना हुआ है। राज्यतत्र केवल नियत्रण के आधार पर चल रहा है, उसके साथ हृदय-परिवर्तन का प्रयोग जुडा हुआ नही है, इसलिए वह भी असतुलित है। व्यवसाय तत्र में प्रामाणिकता या नैतिकता का प्रयोग नही है इसलिए उसमें भी सतुलन नहीं है। शिक्षातंत्र एकांगी विकास की परिक्रमा कर रहा है। वह सर्वांगीण विकास की धुरी पर नही चल रहा है, इसलिए वह भी अपना संतुलन खो बैठा है। धर्मतत्र मे उपासना का स्थान मुख्य है और चरित्र का स्थान गौण है, इसलिए उसका सतुलन भी गडबडाया हुआ है। इस असंतुलन की स्थिति में हम आत्मानुशासन और चरित्र-विकास की बात नही सोच सकते।

जीवन-विज्ञान तत्र मे सतुलन स्थापित करने का प्रयत्न है। उसका एक पक्ष है अणुव्रत और दूसरा पक्ष है प्रेक्षाध्यान। अणुव्रत सकल्प-शक्ति का प्रयोग है। व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा का सकल्प अणुव्रत है और उस सकल्प की पुष्टि अभ्यास के द्वारा हो सकती है। वह अभ्यास पद्धति है—प्रेक्षाध्यान।

क्रोध, लोभ, भय आदि की वृत्तिया बार-बार जागती रहती है। उन्हे अभ्यास के द्वारा बार-बार शात किया जा सकता है। केवल सिद्धांत के द्वारा उनका उपशमन नही होता। किन्तु अभ्यास के द्वारा सिद्धान्त के साथ तादात्म्य स्थापित करने पर उनका उपशमन किया जा सकता है। जीवन-विज्ञान अभ्यास पद्धति है। इसमे आसन, प्राणायाम, श्वास-प्रेक्षा, चैतन्य केन्द्र-

प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा आदि अनेक प्रयोग है। इनके द्वारा आतरिक परिवर्तन किया जा सकता है। व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए आंतरिक या रासायनिक परिवर्तन बहुत आवश्यक है।

जीवन-विज्ञान का उद्देश्य क्या है यह प्रश्न पूछा जाता है। इसका उद्देश्य है—

- पुस्तकीय ज्ञान के साथ अच्छे ढग से जीवन जीने की कला सीखना।
- अपने सवेगो पर नियन्त्रण करने की पद्धति सिखाना।
- अभ्यास के द्वारा रासायनिक संतुलन स्थापित करना और रासायनिक परिवर्तन घटित करना।
- सामाजिक व्यवहार को निश्छल और मैत्रीपूर्ण बनाना।
- मादक वस्तुओ के सेवन से मुक्ति दिलाना।

आज शिक्षा-जगत् की कुछ समस्याए है। जीवन-विज्ञान उन समस्याओ का समाधान है। यही उसके अस्तित्व की अपेक्षा है। शिक्षा की समस्याए इस प्रकार है—

- मस्तिष्क को ज्ञान-विकास के लिए अधिक प्रशिक्षित किया जा रहा है। उसे चरित्र-विकास के लिये बहुत कम प्रशिक्षित किया जा रहा है।
- पुस्तकीय शिक्षा, सिद्धात, उपदेश और विचार-विनिमय से मस्तिष्क के चेतन भाग को प्रभावित किया जा रहा है। उसके अचेतन भाग को बहुत कम प्रभावित किया जा रहा है।
- चरित्र, आदत और सस्कार का सबन्ध मस्तिष्क के अचेतन भाग से अधिक है। उसे प्रभावित किए बिना समानता, सहिष्णुता, सह-अस्तित्व, सप्रदाय-निरपेक्षता और प्रामाणिकता जैसे मूल्यो को विकसित नही किया जा सकता। लोकतत्र और समाजवादी समाज की अपेक्षाओ को पूरा नही किया जा सकता।
- स्वस्थ समाज रचना के लिये स्वस्थ व्यक्तित्व के निर्माण की अपेक्षा होती है। व्यक्तित्व की समग्रता केवल बौद्धिक विकास मे नही है। उसके लिये शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक विकास भी जरूरी है।
- अत स्रावी ग्रन्थियो के स्राव व्यक्तित्व का सतुलन बनाए रखते हैं। मानसिक और भावनात्मक असतुलन के कारण उन ग्रन्थियो के स्राव असतुलित हो जाते है। इस असतुलन की स्थिति मे स्वस्थ समाज की सरचना नही हो सकती। पाठ्यक्रम मे मानसिक और भावनात्मक संतुलन के सूत्रो का समावेश नही है।
- विद्यार्थी को जितना पढाया जा रहा है उतना आवश्यक नही है और जो आवश्यक है वह पढाया नही जा रहा है। आवश्यकता की कसौटी है जीवन से सम्बद्धता और समाज से प्रतिबद्धता। श्रम और चरित्र का जीवन मे

सीधा सम्बन्ध है। इतिहास और भूगोल आदि का जीवन से सीधा सम्बन्ध नही है। एक छोटे विद्यार्थी को जितना इतिहास और भूगोल पढाया जाता है उतना चरित्र या व्यक्तित्व निर्माण के बारे मे नही पढाया जाता। शिक्षक की विवशता है कि वह पाठ्यक्रम से हट कर पढ़ा नही सकता अथवा उसके पास अतिरिक्त समय नही है।

० प्रत्येक व्यक्ति आनन्द या मस्ती का जीवन जीना चाहता है। शारीरिक श्रम से शारीरिक तनाव (फिजिकल टेन्सन), मानसिक श्रम से मानसिक तनाव (मेन्टल टेन्सन) और सवेग से भावनात्मक तनाव (इमोशनल टेन्सन) पैदा होते है। ये तनाव आनन्द या मस्ती को काफूर कर देते है। आनन्द अपने आपको भूलाए विना, चिन्ता और चिन्तन से छुट्टी पाए विना उपलब्ध नही हो सकता। इसी समस्या के आधार पर विद्यार्थियो मे मादक वस्तुओ के सेवन की प्रवृत्ति वढती जा रही है। यदि इसका विकल्प नही दिया गया तो मानसिक तनाव से ग्रस्त रहने वाला विद्यार्थी मादक वस्तुओ से वच सके, यह आज की स्थिति मे कठिन लगता है।

० सामाजिक जीवन व्यवहार मे नैतिक मूल्यो के विपरीत प्रवृत्तियां देखने को मिलती है। एक विद्यार्थी विद्यालय मे ईमानदारी का पाठ पढता है और उसके वाहर वेईमानी की घटनाएं देखता है। इस स्थिति मे शिक्षा के क्षेत्र मे किए जाने वाले मूल्य-विकास के प्रयत्न कैसे सफल हो सकते है ?

० परिस्थितियों, निमित्तो और समाधानो पर ध्यान दिया जा रहा है पर आन्तरिक परिवर्तन या हृदय-परिवर्तन की विधियो पर ध्यान नही दिया जा रहा है।

इन समस्याओ का समाधान जीवन-विज्ञान मे खोजा जा सकता है।

पदार्थ-विकास के लिए विज्ञान को भी अस्वीकार नही किया जा सकता तो मानसिक शक्ति के लिए अध्यात्म को भी अस्वीकार नही किया जा सकता। हमारा जीवन केवल विज्ञान के आधार पर भी नही चल सकता तो केवल अध्यात्म के आधार पर भी नही चल सकता। उसमे विज्ञान और अध्यात्म—दोनो के लिए अवकाश है।

जीवन-विज्ञान के पाठ्यक्रम मे इन दोनो का समावेश किया गया है। दर्शन, अध्यात्म, योग-विद्या और कर्मशास्त्र के साथ-साथ शरीर-विज्ञान, शरीर-क्रिया-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि विद्या-शाखाओ का संतुलन स्थापित किया गया है। इसके पाठ्यक्रम मे सिद्धान्त और प्रयोग दोनो सतुलित है।

जीवन-विज्ञान मे सिद्धान्त और प्रयोग दोनो संतुलित है, इसलिए इसके नैतिक मूल्यो के विकास की सम्भावना की जा सकती है। प्रयोग-शून्य सिद्धान्त के द्वारा उनके विकास की कल्पना नही की जा सकती। स्वभाव निर्माण के लिए प्रयोग नितान्त आवश्यक है। अभ्यास के अभाव मे आदमी

जानता हुआ भी अनजान-सा बना रहता है। जीवन-विज्ञान मे प्रयोग की अनिवार्यता स्वीकार की गई है। इस दृष्टि से यह मूल्य-विकास का एक महत्त्वपूर्ण उपाय हो सकता है।

जीवन-विज्ञान के संबंध मे कुछ सामान्य जिज्ञासाए की जाती है। उनका आकलन इस प्रकार है —

१. जीवन-विज्ञान का आधार क्या है ?

चरित्र-निर्माण, अहिसा और सामाजिक न्याय के लिए आस्था या प्रेम का विन्दु नितान्त आवश्यक है। राष्ट्र या अन्य किसी आदर्श के प्रति समर्पण का भाव आस्था उत्पन्न करता है। जीवन-विज्ञान की पद्धति मे आन्तरिक मूल्यो के प्रति आस्था उत्पन्न की जाती है और वही आस्था सहज-भाव से चरित्र का निर्माण करती है, व्यवहार मे परिवर्तन लाती है।

२. जीवन-विज्ञान का विद्यार्थी के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

जीवन-विज्ञान के प्रयोगो द्वारा एकाग्रता, स्मृति, धारणा-शक्ति और सकल्प-शक्ति का विकास होता है। ये मूल्यवान् है, पर इनसे अधिक मूल्यवान् है जीवन व्यवहार का परिवर्तन। सहिष्णुता, अनुशासन, दायित्व-बोध आदि का विकास बौद्धिक विकास के साथ अत्यन्त अपेक्षित है। हमारे शरीर मे उत्पन्न होने वाले व्यवहार रसायनो से नियन्त्रित होते है। आन्तरिक प्रयोगो के द्वारा रासायनिक सतुलन स्थापित किया जा सकता है। उससे व्यवहार परिवर्तन हो जाते है। इस पद्धति से विद्यार्थी के व्यवहार का परिवर्तन देखा गया है।

३. अभिभावक और शिक्षक के बदले बिना क्या विद्यार्थी बदल पाएगा ?

अणुव्रत आन्दोलन ने शिक्षा के क्षेत्र मे त्रिकोणात्मक अभियान शुरू किया था। अभिभावक, शिक्षक और विद्यार्थी—यह एक त्रिकोण है। इसका एक साथ बदलना जरूरी है। पूरे समाज मे चरित्र का विकास हो, तभी विद्यार्थी मे चरित्र का विकास हो सकता है, इस अवधारणा को अस्वीकार नही किया जा सकता। किन्तु चरित्र-विकास की प्रक्रिया का प्रारम्भ कहां से हो, यह एक विमर्शनीय विन्दु है। विद्यार्थी के सस्कार अपरिपक्व होते है, इसलिए उनमे चरित्र का बीज बोना जितना सरल है उतना परिपक्व वय वाले मनुष्य मे नहीं होता। नैतिक-मूल्य, सम्प्रदाय-निरपेक्षता, लोकतन्त्रीय समाजवादी समाज-व्यवस्था, जाति-भेद और रंग-भेद की भावना से मुक्ति, इन सब का विकास बचपन मे ही जितनी सरलता से किया जा सकता है उतना बाद मे नहीं किया जा सकता। इसलिए शिक्षा को केवल बौद्धिक विकासपरक नहीं, किन्तु भावनात्मक भी होना चाहिए।

४. क्या शिक्षकों का जीवन-विज्ञान की पद्धति से भावात्मक लगाव हुआ है ?

इस पद्धति मे पहले अध्यापक प्रशिक्षण लेते है, फिर वे विद्यार्थियो को प्रयोग करवाते है। जिन अध्यापको ने प्रशिक्षण लिया वे स्वय अपने जीवन मे लाभ का अनुभव करते हैं। इनके साथ उनकी रसात्मकता जुडी है। जिस प्रणाली के प्रति प्रशिक्षक की अभिरुचि नही जुडती, उसके अच्छे परिणाम नही आ सकते। जिससे अपना शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य अच्छा होता है, मानसिक तनाव कम होता है, नशे की आदत से छुटकारा होता है, मानसिक शान्ति की अनुभूति होती है उसके प्रति सहज ही लगाव उत्पन्न हो जाता है। पचास या साठ प्रतिशत अध्यापको की रुचि और उतनी ही विद्यार्थियों मे परिवर्तन की सम्भावना की जा सकती है।

जीवन-विज्ञान : स्वस्थ समाज-रचना का संकल्प

सामाजिक मूल्य विकसित होते है तो व्यक्ति सुख और शाति के साथ जीता है। सामाजिक मूल्य विघटित होते है तो अनेक समस्याओ का सामना करना पड़ता है। इसलिए चिन्ता होना स्वाभाविक है। पर चिन्ता यथार्थ की होनी चाहिए, उपायात्मक होनी चाहिए। केवल चिन्ता के लिए चिन्ता नही। कभी-कभी अर्थहीन चिन्ता हो जाती है, केवल तार्किक चिन्ता हो जाती है।

एक वार दो मूर्ख आपस मे बात कर रहे थे। बात चल पडी तर्क-शास्त्र की। तर्कशास्त्र का नियम बताया गया कि आदमी मरणधर्मा है, जो जन्म लेता है वह मरता है। यह एक निश्चित व्याप्ति है। दूसरा मूर्ख वोला—"यह वडी समस्या है। यदि सब आदमी मरने वाले है तो अन्त मे मरेगा उसे श्मशान कौन ले जाएगा ?"

यह चिन्ता तो है, किन्तु अर्थहीन चिन्ता है, केवल तार्किक चिन्ता है। हमारी चिन्ता सार्थक चिन्ता होनी चाहिए, उपायात्मक होनी चाहिए। चिन्ता की निष्पत्ति उपाय मे आए।

समाज के मूल्य अधिक नही है। केवल तीन मूल्य है—अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह। समान-रचना के ये तीन आधार है और ये तीन सामाजिक मूल्य है। अहिंसा के विना समाज वनता नही। सत्य के बिना भी समाज नही वनता और अपरिग्रह के विना भी समाज नही वनता।

हिंसक आदमी समाज बना नही पाता। समाज-रचना के ये तीन आधारभूत तत्त्वो और इन तीन मूल्यो का विकास और उनके उपाय भी हमारे हाथ मे हो, यह आवश्यक है। निरुपाय व्यक्ति कुछ भी नही कर सकता। वही व्यक्ति सफल होता है जिसके पास कुछ उपाय होता है। हम उपाय की मीमांसा करें, उससे पहले कुछ समझ भी लें।

पहला आधार है—अहिंसा और अहिंसा का पहला तत्त्व है—भावना का परिवर्तन। हिंसा के अनेक कारण है। उनमे एक वडा कारण है—भावना, एक प्रकार की धारणा का न्यास। आदमी आदमी को आदमी नही मान रहा है। यह एक भावना है और जव तक इस भावना का परिवर्तन नही होता तव तक इस सामाजिक मूल्य का विकास नही हो सकता।

अध्यात्म के आचार्यो ने इस भावना-परिवर्तन के लिए कुछ शब्द दिए—'आत्मौपम्य' आत्मतुला, 'सव जीव समान', सव जीव अपनी आत्मा के जैसे

हैं।' ये शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है और गभीर अर्थ की सूचना देने वाले है। इस भावना के अभाव मे जातीय विद्वेष पनपा, साप्रदायिक विद्वेप पनपा और राज्य का सीमागत विद्वेष पनपा। यदि यह भावना विकसित होती कि सब जीव समान हैं, मेरी आत्मा के जैसी ही है दूसरे की आत्मा, जैसी सुख-दु.ख की अनुभूति मुझे होती है, वैसी ही सामने वाले व्यक्ति को होती है, तो यह जातीय और साम्प्रदायिक आक्रोश-विद्वेश कभी पनप नही पाता।

वर्तमान स्थिति क्या है ? एक काला आदमी है और दूसरा गोरा आदमी है। आदमी आदमी है, केवल चमडी का और रग का अन्तर है। किन्तु गोरा आदमी अपने आपको श्रेष्ठ मान रहा है और काले आदमी को नीच मान रहा है एक सवर्ण है, दूसरा असवर्ण है। सवर्ण अपने को श्रेष्ठ मान रहा है और असवर्ण को नीच मान रहा है। यह रग के आधार पर विद्वेप, जाति के आधार पर विद्वेष, धारणाओ के आधार पर विद्वेप है। एक नाजी यहुदी को हीन मानता है और यहुदी नाजी को पागल कुत्ता जैसा मानता है। यह जातिगत विद्वेष है। विचारधारा के आधार पर भी यह विद्वेप पनपता है। एक सप्रदाय वाला दूसरे सप्रदाय वाले को हीन मान रहा है और अपने आपको उच्च प्रामाणित कर रहा है। ये सारे जो विद्वेष पनपे है, वे इस आधार पर पनपे है कि अहिसा का जो एक सूत्र था मानव जाति की एकता का, उसे भूला दिया गया। जब हम सामाजिक मूल्यो के ह्रास की चर्चा करते हैं तो इस बात पर हमे फिर विचार करना होगा कि कहा भूल हुई है ? उस भूल को पकडना होगा। जहा दर्द है वहां अगुली टिके तब तो कोई उपचार की बात हो सकती है। दर्द कही और उपचार कही किया जाए तो बहुत सार्थकता नही होती। ठीक दर्द पर अगुली टिकनी चाहिए।

'मनुष्य जाति एक है'—इस मूल्य की प्रतिष्ठा हमारी अनेक समस्याओ का एक समाधान है। कुछ लोगो ने इस दिशा मे प्रयत्न किए। इनमे सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रयत्न है महात्मा गाधी का। उन्होने इन सारे विद्वेपों को मिटाने के लिए काफी प्रयत्न किए और अहिसा के प्रति आस्था उत्पन्न करने का अथक प्रयास किया। किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है, घटनाए स्वय प्रमाण है कि वह प्रयत्न एक सीमा तक सफल हुआ, किन्तु व्यापक स्तर पर सफल नही हो सका। इसका कारण यही है कि जो प्रयत्न हुआ, वह बडे लोगो मे हुआ। अवस्था पक गई, विचार परिपक्व बन गए, धारणाए पक गई, उन लोगो मे प्रयत्न हुआ। जब तक एक प्रभावशाली वातावरण रहा, परिस्थिति रही, तब तक तो लगा कि हिन्दुस्तानी मानस अहिसा के निकट जा रहा है. किन्तु जैसे ही वह साया उठा, वह प्रभावी व्यक्तित्व सामने नही रहा और हिसा देखते-देखते उग्र बन गई। जैसे ही हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का विभाजन हुआ, हिसा ने क्या रूप लिया ? कितनी क्रूरता

सामने आई ? इस घटना से एक निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिंसा की शक्ति भी कमजोर नही है। अहिंसा को अगर हम शक्ति-शाली माने तो हिंसा की शक्ति भी कम नही है और घटनाओ के आधार पर और इतिहास के साक्ष्यो के आधार पर तो यह कहा जा सकता है कि समय-समय पर हिंसा ने अपना जो रौद्र रूप दिखाया है, अहिंसा उतना सौम्य रूप नही दिखा पाई है। तो फिर हम पराजय स्वीकार कर लें कि समाज के लिए अहिंसा का मूल्य कोई स्थायी मूल्य या शाश्वत मूल्य नही है और हम हिंसा का वरण इसलिए करे कि हिंसा का मूल्य समाज के लिए ज्यादा कारगर है। किन्तु यह भी स्वीकार नही किया जा रहा है। जहां-जहां हिंसा की समस्या उग्र बनती है, तत्काल ध्यान अहिंसा की ओर जाता है। जहा विवाद उग्र होता है, वहा तत्काल ध्यान समझौते की ओर जाता है। सब कहते है कि हिंसा की समस्या सुलझनी चाहिए, विवादो का अन्त आना चाहिए।

पजाब की समस्या उग्र बनी। पूरे राष्ट्र का ध्यान केन्द्रित हो गया कि आतकवाद समाप्त होना चाहिए. हिंसा की उग्रता अब नही चलनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि आदमी हिंसा चाहता नही, करता है। वस चाहता अहिंसा है, चाहता शाति है किन्तु उन्माद आता है और उन्माद मे वह हिंसा कर डालता है, शाति भंग हो जाती है।

दो स्थितिया है। एक है उन्माद की स्थिति और दूसरी है शात स्थिति। शांत स्थिति मे आदमी अहिंसक मूल्य को महत्त्व देता है किन्तु उन्माद जब आता है, उस स्थिति में वह हिंसा कर लेता है।

हिंसा स्वाभाविक या नैसर्गिक माग नही है। वह एक अस्वाभाविक परिस्थिति है। हम कुछ कारणो मे प्रभावित होकर उस दिशा मे चले जाते हैं। यह वात समझ मे आनी चाहिए कि समाज का मूल्य अहिंसा ही हो सकता है और इसी आधार पर समाज वना है। वह नही होता तो समाज बनता ही नही। एक आदमी दूसरे आदमी को खाने और काटने को तैयार रहता। किन्तु सवसे पहला समझौता यही हुआ कि भई! तुम भी अपनी मीमा मे रहो और मैं भी अपनी सीमा मे रहू और हम दोनो साथ-साथ जीए, ममाज वन कर जीए।

आदमी अहिंसा की वात को भूल-सा गया है। इस स्थिति मे उपाय की बात सोचनी चाहिए कि किम उपाय से इस अहिंसा के मूल्य को पुनः प्रस्थापित करें ? इस पर जब चिंतन करते है तो ऐसा लगता है कि एक और प्रयोग किया जाए। वह प्रयोग यह हो कि वचपन से ही अहिंसा की आस्था उत्पन्न की जाए। जब हिंसा की आस्था उत्पन्न हो जाती है, यह धारण वन जाती है कि हिंसा के बिना काम नही चलता, फिर उसे वदलना बहुत जटिल हो जाता है। वचपन के संस्कार इतने प्रभावी होते है कि वाद मे आने वाले

संस्कार उनके सामने टिक नही पाते। एक प्रयोग करने की जरूरत है और वह प्रयोग होगा बचपन से अहिंसा की आस्था का निर्माण।

जीवन-विज्ञान की प्रकल्पना इसी चिंतन का एक परिणाम है। जिन सामाजिक मूल्यो को हम समाज मे देखना चाहते है, विकसित करना चाहते हैं, उन सामाजिक मूल्यो को बचपन मे ही प्रतिफलित करना चाहिए, उनके प्रति आस्था पैदा करनी चाहिए।

आज सबसे बडा सकट है आस्था का। श्रद्धा इतनी विचलित है कि आदमी कही भी टिक नही पा रहे है। एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा और तीसरे के बाद चौथा कदम आगे बढ रहा है। कही पैर जमाकर खडे होकर आदमी कुछ करना नही चाहते। मैंने एक आदमी को देखा है कि बचपन से ही उसके मन मे साधना की बात आई और वह साधना करने चला। किन्तु चचलता इतनी कि किसी भी बात पर जमा नही। आज एक पद्धति को अपनाया तो तीसरे दिन दूसरी पद्धति को। और सातवे दिन तीसरी पद्धति को। बदलता गया, बदलता गया। आज यह स्थिति है कि वह जहा था, लगभग वही है, बहुत आगे सरक नही पाया। कही न कही आदमी को अपना पैर जमाकर खडा होना होता है और जब वह बिन्दु प्राप्त नही होता है तो कही भी हम कुछ कर नही पाते। हमे आस्था को दृढ़ बनाना है और उसके लिए भावना का परिवर्तन आवश्यक है। शिक्षा के साथ इस सस्कार को पुष्ट किया जाए कि 'सब जीव समान है।' 'सब जीव समान हैं'—यह बात भी कुछ अमूर्त्त बन जाती है। मूर्त्त बात, सगुण भाषा ज्यादा प्रभावशाली बनती है। अमूर्त्त बात कभी-कभी कमजोर बन जाती है तो फिर इस आधार पर एक सिद्धात विकसित किया कि जीवो की बात हम छोड दे पर कम से कम जो हमारे सामने है, हमारे जैसे है, उसके प्रति तो यह भाव विकसित करे कि मानव जाति एक है। दूसरा मनुष्य वैसा ही है जैसा मैं हू। और जैसा मैं हू, वैसा ही दूसरा मनुष्य है। इतनी आस्था उत्पन्न हो जाए तो मानवीय व्यवहार बदल जाए और यह बचपन मे ज्यादा सभव है, क्योंकि उस अवस्था तक दूसरे सस्कार हावी नही होते, प्रभावी नही बनते।

जैसा प्रारभिक पाठ मिलेगा, विद्यार्थी उसे जल्दी पकड़ेगा। समाज-शास्त्र के अनुसार जिन मालिको और दासो मे मानवीय स्तर पर चिन्तन हुआ और सबध स्थापित हुए उनका व्यवहार बदल गया। एक बड़ी क्रूर कहानी रही है इतिहास की कि मालिको ने अपने दासो पर इतने क्रूर अत्याचार किए है कि उनको मानव नही माना जा सकता। मालिक मानो मनुष्य हो और दास जैसे उसका पशु हो। पशु के प्रति भी उतने अत्याचार या क्रूर व्यवहार नही किए जाते किन्तु मनुष्य के प्रति किए गए है और इतिहास की हजारो-हजारो घटनाए इस तथ्य की साक्षी दे रही हैं।

आज भी देखते है तो बडा आश्चर्य होता है। आदमी कुछ अर्थो मे आदमी से ज्यादा पशु को मूल्य देता है, क्योंकि उसकी उपयोगिता मानता है। वहा उसका अपना स्वार्थ है। एक घोडा सुविधा के साथ रहता है। उसका स्थान है वातानुकूलित गृह। उसकी सेवा मे पाच-पाच, दस-दस नौकर है। घोडे पर जितना खर्च हो रहा है उतना उसके परिचारको पर नही हो रहा है, क्योकि घोडा ज्यादा उपयोगी है। एक रेस का घोडा लाखो रुपए या लाखो डालर पैदा करा देता है, जबकि आदमी इसका एक तुच्छ अश भी लाभ नही देता। आदमी की सारी दृष्टि उपयोगिता पर, स्वार्थ पर और लाभाश पर टिकी हुई है, मानवीय स्तर पर टिकी हुई नही है।

जिन लोगो ने इस सचाई का अनुभव किया, उनका व्यवहार बदल गया। मानवीय व्यवहार के लिए सबसे प्रथम बात है कि मनुष्य जाति की एकता मे आस्था उत्पन्न हो। ऐसा होने पर क्रूर व्यवहार करना कठिन हो जाता है।

अहिंसा का पहला सूत्र है—धारणा या भावना का परिवर्तन। दूसरा सूत्र है—प्रेम या मैत्री का विकास।

हिंसा का मूल है—घृणा। जब तक घृणा पैदा नही होती, आदमी हिंसा कर नही सकता। लडना होता है, युद्ध करना होता है तो सामने वाले के प्रति घृणा पैदा की जाती है। यदि यहूदी जाति के प्रति घृणा पैदा नही की जाती तो लाखो यहूदियो को विना मौत नही मारा जाता। पहले घृणा पैदा की जाती है और फिर हिंसा की जाती है। आज भी जितना आतकवाद चल रहा है वह सारा घृणा के आधार पर चल रहा है। आतंकवाद का प्रशिक्षण मिलता है। प्रशिक्षण मे सामने वाली जाति के प्रति इतनी घृणा भर दी जाती है कि फिर उसे मारने मे कोई सकोच नही होता। घृणा हिंसा का बहुत बडा कारण है। उसे बदलना और उसके स्थान पर प्रेम उत्पन्न करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रेम उत्पन्न होने पर फिर कोई किसी को सता नही सकता।

एक चोर या डाकू अपनी पत्नी के गहने नही चुराता, घरवालो को कभी नही लूटता। मिलावट करने वाला व्यापारी बाजार में जाता है तो क्या वह अपने परिवार के लिए मिलावटी दूध या मिलावटी सामान लाना चाहता है? वह अपने घर मे अच्छा लाना चाहेगा। अपनी पत्नी को व अपने बच्चो को खराब चीज खिलाना नही चाहेगा। वह दूसरो को मिलावटी माल बेचता है और स्वय शुद्ध लेना चाहता है। दूसरा कारण यह है कि उसका परिवार के प्रति प्रेम है। जहा प्रेम है वहा क्रूर व्यवहार हो नही सकता।

यदि चोर या डाकू क्रूर ही होते तो उनका परिवार बनना ही नही। किन्तु वे अपने परिवार के प्रति बडे दयालु, बडे प्रेमालु होते है।

प्रेम उत्पन्न करना, प्रेम का विकास करना, मैत्री का विकास करना यह अहिंसा का दूसरा तत्त्व है।

प्रेम की बहुत महिमा गाई है हमारे संतो ने। कबीर ने यहा तक लिखा—

पोथा पढ-पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय॥

आज समस्या यही है कि शिक्षा के साथ सवेदनशीलनता, प्रेम, मैत्री या करुणा के विकास की बात बहुत जुडी हुई नही है। कही-कही होगी पर जुडी हुई नही है। और मैं यह मानता हूं कि केवल शिक्षा या पढाई से ही यह बात आने वाली नही है। प्रेम के जो केन्द्र है शरीर मे, जब तक उनको नही छुआ जाता, करुणा के केन्द्रों को नही छुआ जाता, तब तक वे विकसित नहीं होते।

इस विषय मे एक बात और स्पष्ट करना जरूरी होगा कि हमारे शरीर की रचना बहुत जटिल है, हमारे मस्तिष्क की रचना भी जटिल है। उसे समझे बिना सवेदनशीलता का विकास नही हो सकता। घृणा का केन्द्र भी हमारे मस्तिष्क मे है और प्रेम का केन्द्र भी हमारे मस्तिष्क मे है। दोनो विद्यमान हैं। अब जिसको बल मिलेगा वह पुष्ट हो जाएगा। जिसको बल नही मिलेगा वह कमजोर हो जाएगा।

दो लडके है। जिस लडके को प्यार मिलेगा, वह अच्छा बन जाएगा और जिसको तिरस्कार मिलेगा, वह सूख जाएगा। जिस पौधे को प्यार मिलेगा वह पल्लवित हो जाएगा। जिसे प्यार नही मिलेगा, पानी नही मिलेगा, जीवन नही मिलेगा, वह पौधा सूख जाएगा।

स्मृति पर खोज करने वाले वैज्ञानिक बतलाते है कि हमारे स्मृति के रसायन बडे अद्‌भुत हैं। एक रसायन को आप हजार बार बल दें वह पुष्ट हो जाएगा और वह बात २०-३० वर्ष तक बराबर आपकी स्मृति मे बनी रहेगी। यदि उसको बल नही मिलेगा तो वह रसायन कमजोर पड़ता चला जाएगा और विस्मृति की मात्रा बढती चली जाएगी।

प्रश्न है आवृत्ति का, प्रश्न है पल्लवन का और प्रश्न है उसे पोषण मिलने का। हम उन केन्द्रो को यदि पल्लवित करते हैं, उनको छूते है तो अवश्य ही घृणा की भावना कम होती है और प्रेम का विकास होता है।

प्रेक्षाध्यान का एक प्रयोग है—ज्योति-केन्द्र का ध्यान। यदि ज्योति-केन्द्र पर हम ध्यान करेंगे और बार-बार उनको देखेंगे, बार-बार उनका अनुभव करेंगे तो प्रेम, मैत्री और सवेदनशीलता की भावना बढेगी। और यदि हमारा ध्यान ज्यादा पेट की ओर जाएगा, नाभि के आस-पास परिभ्रमा करेगा तो क्रूरता की भावना, उद्दण्डता की भावना और घृणा की भावना को बल

मिलता रहेगा। इसलिए हम किसको छूए या किसको अनछुआ रखे, यह जानना बहुत आवश्यक है।

आचार्य भिक्षु ने बहुत महत्त्वपूर्ण बात लिखी। उन्होने कहा—एक व्यक्ति ने दो बीज बोए—एक आम का और दूसरा धतूरे का। दोनो पास पास मे थे। उसने अपने लडके को कहा कि पौधो को सीचना है। लडका भोला था, ना-समझ था। वह धतूरे के बीज पर बहुत पानी डालता, उसकी रखवाली करता, खूब सार-सभाल करता और जो आम का पौधा था उसे न पूरा पानी देता, न रखवाली करता, पूरा ध्यान भी नही देता। परिणाम यह हुआ कि आम का पौधा मुरझा गया और धतूरे का पौधा चमक उठा।

यह निर्णय हमे करना है कि क्या हम धतूरे के पौधे को ज्यादा पानी दे रहे है या आम के पौधे को ज्यादा पानी दे रहे है ? हम किसकी ज्यादा सार-सभाल कर रहे है ? जिस पर अधिक ध्यान देगे, वह ज्यादा विकसित होगा और जिस पर कम ध्यान देगे, वह सिकुड़ जाएगा।

प्रश्न है कि हमारा ध्यान आज कहां है ? ध्यान प्रेम के पौधे पर है या घृणा के पौधे पर है ? हम पानी कहा सीच रहे है ? हमारे लिए यह बहुत ज्वलन्त प्रश्न है। पानी तो सीच रहे है घृणा के पौधे पर और हम चाहते है कि अमन से रहे, शाति से रहे, कही आतक न हो, कही हिंसा न हो, लूट-खसोट न हो, अपराध न हो। हमारी कल्पना तो चलती है रामराज्य की और कार्य चलता है रावणराज्य का। सगति कैसे हो ? इन विसगतियो मे जीते हुए हम मूल्यो का विकास नही कर सकते। यदि सचमुच हमारी आस्था है मूल्यो का विकास करना, सामाजिक मूल्यो को प्रतिष्ठित करना तो हमे पानी वही सीचना होगा जिससे कि मूल्यो का विकास सभव बन सके। अन्यथा बात कुछ अटपटी-सी बन जाएगी। हमे अपनी कमजोरी का पूरा अनुभव नही होता। और कभी-कभी ऐसा होता है कि जब तक अपनी कमजोरी को आदमी साफ नही रखता है तब तक दूसरा उसे ठीक समझ ही नही पाता। जब कमजोरी सामने आती है तो दूसरा ठीक समझ लेता है। पर आदमी की प्रवृत्ति है कि वह अपनी कमजोरी को छुपाना चाहता है।

एक दिन एक आदमी अपने मैनेजर के पास जाकर बोला 'यह जो महिला टाइपिस्ट मेरे साथ काम कर रही है, उसे सेवा निवृत्ति करना चाहता हू।' मैनेजर ने पूछा—'क्यों छोडना चाहते हो ?' उसने कहा—यह ठीक टाइप करना ही नही जानती, बार-बार अशुद्ध शब्द लिख देती है, बार-बार मुझे तग करती है, पूछती रहती है कि इस शब्द का स्पेलिंग क्या होगा ? उस शब्द का स्पेलिंग क्या होगा ? मुझे बताने मे कितना समय लगाना पडता है ?' मैनेजर ने कहा—'इतनी छोटी सी बात के लिए उसको छोडना क्या ठीक होगा ? पूछने मे क्या आपत्ति है ? तुम्हे पूछती है तो तुम बता दिया करो।' उसने कहा—

'मैं वार-वार वताऊ तो मुझे वार-वार डिक्सनरी देखनी पडती है। मेरा समय ऐसे ही व्यर्थ चला जाता है।'

कमजोरी तो अपनी है और छोडना उसको चाहता है। यह एक बडी समस्या है। आदमी यदि अपनी दुर्वलता को ठीक समझ ले तो कोई समाधान मिल सकता है। पर हम अपनी कमजोरी को ठीक समझ ही नही पा रहे है। हमारी यह कमजोरी है कि जहां पल्लवन देना चाहिए हम स्वय उसे पल्लवन नही दे रहे है।

अहिंसा की चर्चा हजारो वर्षो से हो रही है। उसे आज भी आवश्यक मानते है। उसकी अनावश्यकता को हम स्वीकार नही करते। पर उसका विकास नही हो पा रहा है। उसका मूल कारण है हमारी दुर्वलता। दुर्वलता यह है कि हम उसके प्रति सच्चे मन से प्रयत्न करना नही चाहते। आप स्वय समझे कि आज हिंसा के पीछे जितनी मानवीय शक्ति खर्च हो रही है उसका एक प्रतिशत भाग भी अहिंसा के पीछे खर्च नही हो रहा है। वडे आश्चर्य की वात है। हमारी दुहाई है अहिंसा की और सारी शक्ति का नियोजन हो रहा है हिंसा के पीछे। क्या यह विरोधाभास नही है? हर आदमी शाति से रहना चाहता है और उसकी सारी प्रवृत्तिया अशाति को सिंचन दे रही है। क्या यह विरोधाभास नही है? यह सब क्यो हो रहा है? इसलिए कि वचपन से ही सस्कार दूसरे प्रकार के वने हुए हैं।

एक वार आचार्य श्री के सामने एक प्रश्न आया कि छोटे वच्चो को दीक्षित नही करना चाहिए। वडा आन्दोलन छिडा। उस स्थिति मे आचार्य श्री ने कहा—'मैं इस पक्ष मे नही हूं कि छोटे वच्चो को ही दीक्षा दी जाए। किन्तु यह मुझे स्पष्ट लगता है कि छोटे वच्चे जितने योग्य प्रमाणित होते हैं उतने शायद वडे योग्य प्रमाणित नही होते। यह हमारा अनुभव है।' मैं केवल अपनी परम्परा की वात आपको वताऊ कि आठ आचार्य हो चुके है, आचार्य श्री तुलसी नौवें है और दसवा मैं आपके सामने वैठा हूं। इस परम्परा मे लगभग १०, ११, १२, वर्ष की अवस्था वाले आचार्य हुए है। आचार्य श्री ग्यारह वर्ष की अवस्था मे मुनि वने, मैं दस वर्ष की अवस्था मे मुनि वना, और भी वने। पर हमारा अनुभव है कि जो छोटी अवस्था मे वने, उन्होने जो साधना का विकास किया और उनके संस्कार जितने उपयोगी वने, वडी अवस्था वालो के नही वने। कारण स्पष्ट है कि पहले गृहस्थी मे उलझे और फिर वाद मे मुनि वने तो स्मृतिया दोनो तरफ काम करती है। इधर तो मुनि वन गए तो मुनि-धर्म को निभाना है और स्मृतिया अतीत वाली काम करती हैं। वे वधन वार-वार सामने आ जाते हैं। यह इसलिए आपको वता रहा हू कि वचपन मे सस्कारो की उतनी तीव्रता नही होती, वाधाए नही आती, और नए सस्कारो को, नई आदतो को, पैदा करने मे हमे

बडी सुविधा होती है। जब संस्कार रूढ़ हो जाते है, अर्जित आदतें जब रूढ बन जाती है तब उन्हे तोडना हर किसी के वश की बात नही होती। कुछ व्यक्ति अपवाद हो सकते है कि जो बडी अवस्था मे भी आमूलचूल बदल सकते है, अपनी आदतो को बदल देते है, अपने सस्कारो में भी परिवर्तन ला देते है। किन्तु इसे मै साधारण घटना नही मानता। यानी बडा होने के बाद सस्कारो को बदलना वह एक विशेष घटना है और छोटी अवस्था मे सस्कारों को न बदलना एक विशेष घटना है। जब कि सभावना यह है कि छोटी अवस्था मे अभिलषित आदत का निर्माण किया जा सकता है, वह बहुत सभव है।

इसलिए शिक्षा के साथ इसकी बहुत सगति बैठती है कि प्रारम्भ से ही बच्चो मे वैसी आस्थाओ का निर्माण किया जाए, जिनकी अपेक्षा समाज रखता है और जिन्हे हम सामाजिक मूल्य के रूप मे विकसित करना चाहते है।

अहिंसा का तीसरा तत्त्व है—कष्ट-सहिष्णुता। हमारे सामने दो मार्ग है। एक है सुविधा का मार्ग और दूसरा है कष्ट-सहिष्णुता का मार्ग। मै कष्ट-सहिष्णुता की चर्चा करू तो मुझे ऐसा लगता है कि मै आज की धारा के प्रतिकूल बात कह रहा हू। आज युग की धारा सुविधावादी धारा है। सारे आश्वासन सुविधावाद के मिल रहे है। एक व्यक्ति चुनाव लडता है, वह अपने चुनाव क्षेत्र मे आश्वासन देता है। आश्वासन सबसे ज्यादा यह देता कि मैं तुम्हे अधिक से अधिक सुविधा उपलब्ध कराऊगा। और उस आधार पर चुनाव मे हार और जीत होती है। शायद पूरा कर सके या न कर सके, पर आश्वासन सुविधा का देगा, अधिक से अधिक सुविधा का।

एक व्यक्ति चुनाव मे खडा हुआ। उसने चुनाव का प्रचार शुरू किया और कहा कि देखो, पहली बार तुम लोगो ने मुझे जिताया तो मैंने गाव-गांव में पानी के नल लगवा दिए। अब अगर मुझे जिताओगे तो नलो में पानी भी आ जाएगा। आश्वासन देता है और उस सुविधा के आश्वासन मे आदमी उलझ जाता है।

एक बडी समस्या है—सुविधावादी दृष्टिकोण। मैं उसके प्रतिपक्ष मे कष्ट-सहिष्णुता की बात कर रहा हू। अभी गर्मी नही है। यदि गर्मी हो तो हर व्यक्ति पंखे के आस-पास बैठना चाहेगा, कमरे मे बैठना कोई नही चाहेगा। हमारी प्रवृत्ति है सुविधा की ओर। सहज आकर्षण है सुविधा के प्रति। तो क्या हम मनुष्य की सहज माग को ठुकरा कर कोई ऐसी प्रतिकूल धारा की बात तो नही कर रहे हैं जिसे अस्वाभाविक कहा जाए?

समाज का आधार : अहिंसा की आस्था

आज यह सुना जा रहा है कि हिंसा बहुत बढ रही है। कारण की खोज मे जाए और गहरे मे उतरे तो पता चलेगा कि सुविधावादी दृष्टिकोण के कारण हिंसा बढ़ रही है। बात तो बहुत दूर की-सी लगती है कि सुविधावाद और हिंसा का क्या सम्बन्ध है? किन्तु कभी-कभी बहुत दूर की बात बहुत निकट की बात हो जाती है। सुविधावाद और हिंसा—इन दोनों मे गहरा सम्बन्ध है। जैसे-जैसे कष्ट सहने की हमारी क्षमता घटेगी, हमे हिंसा का सहारा लेना पड़ेगा। हम सहन नही कर पाएगे। आज का पूरा वातावरण ऐसा है कि कोई किसी को सहन नही करता, असहिष्णुता ने हिंसा को काफी आगे बढाया है। शारीरिक असहिष्णुता और मानसिक असहिष्णुता—कष्ट को न सहना, मानसिक भावो को न सहना, ये दोनों हिंसा के बहुत बड़े निमित्त बनते है।

एक व्यक्ति कोई घटना को सहन नही कर सकता और वह आत्म-हत्या तक की स्थिति मे चला जाता है। एक व्यक्ति दूसरे के द्वारा पैदा की गई थोडी-सी अप्रिय स्थिति को सहन नही कर सकता, शारीरिक कष्टो को बिलकुल सहन नही कर सकता, उस स्थिति मे हम अहिंसा की कल्पना नही कर सकते। अहिंसा एक शक्ति है, एक पराक्रम है, एक वीर्य है। भ्रमवश ऐसा मान लिया गया कि अहिंसा कायर के लिए है। यह बहुत बडी भ्राति है। कायरता का और अहिंसा का कोई संबध ही नही है। कायर आदमी को अहिंसा नही छूती और अहिंसा को कायर आदमी नही छूता। दोनो मे जैसे अस्पृश्यभाव है। अहिंसा आन्तरिक ऊर्जा का विकास है। परम पराक्रमी व्यक्ति ही अहिंसा की बात सोच सकता है और कर सकता है। जब दृष्टि बदलती है, पराक्रम स्वत. स्फूर्त होता है तो अहिंसा प्रगट होती है। अगर हम कष्ट-सहिष्णुता को छोडकर अहिंसा की कल्पना करे तो वह हमारी मात्र भ्रान्ति ही होगी। इन दोनो को कभी पृथक् नही किया जा सकता। दोनो मे बहुत गहरा संबध है।

प्राचीन काल की घटना है। एक व्यक्ति के मन मे ज्ञान की गहरी पिपासा थी। उसने बहुत ज्ञान प्राप्त किया था, फिर भी गहरी प्यास थी। उसे पता चला कि ४० कोस की दूरी पर एक लुहार रहता है। [illegible] बड़ा ज्ञानी है। वह उसके पास पहुचा और अपनी प्रार्थना प्रस्तुत की [illegible] [illegible] हू। लुहार ने कहा—बैठो और इस [illegible]

रस्सी को पकड लो । लुहार धौकनी धौक रहा है, वह रस्सी पकडे बैठा है। बैठा रहा। दिन पूरा हो गया। कुछ भी नही बताया। दूसरा दिन बीता, तीसरा दिन बीता। दिन ही नही बीते, वर्ष बीत गया। वह बार-बार कहता रहा कि मै धौकनी चलाने के लिए नही आया हू, ज्ञान की प्यास लिए आया हू। लुहार बात को सुनी-अनसुनी करता रहा। दस वर्ष बीत गए। लुहार ने एक दिन उसकी पीठ थपथपाते हुए कहा—तुम अपने घर चले जाओ। जो पाना था, वह तुम पा चुके। तुम्हारी कसौटी हो गई। तुम पात्र हो, तुममे इतनी सहिष्णुता है कि दस वर्ष का समय ज्ञान-प्राप्ति के लिए लगा सकते हो। अब कुछ भी मिलना शेप नही है, तुन्हे जो कुछ मिलना चाहिए था, वह मिल गया।

यह कल्पना जैसी बात लगती है। आज किसी विद्यार्थी से अध्यापक कहे कि यह झाडू लो और दस वर्ष तक सफाई करो तो दस वर्ष तो क्या दस घंटा भी हो जाए तो बडी मुश्किल लगती है। वह सोचेगा, पूरा दिन निकम्मा चला गया, कुछ पढाया ही नही। आज इतनी अस्थिरता है आदमी मे।

आज के आदमी मे वैचारिक, सास्कृतिक और चैतसिक अन्तर आया है। वह इतना त्वरितगामी हो गया कि वह किसी बात को सहन नही कर सकता। इस असहिष्णुता ने हिंसा को जन्म दिया। हिंसा का बहुत बडा कारण है—असहिष्णुता। यह असहिष्णुता बढी है सुविधावादी दृष्टिकोण के कारण। अगर थोडी सुविधा न मिले तो व्यक्ति सब कुछ करने को तैयार है। हमारा लक्ष्य किसी तत्त्व को या परम तत्त्व को, परा-विद्या को या अपरा-विद्या को पाना नही रहा। लक्ष्य केवल बन गया सुविधा का। जहा सुविधा मिले वहा रहना है।

बात है तो व्यग्य की, पर इस प्रसंग मे बहुत घटित हो सकती है। आदमी का दृष्टिकोण जैसा होता है, वह वैसे ही सोचता है। वह दूसरी बात नही सोचता।

एक बनिया मरा और यमराज के पास पहुचा। यमराज ने कहा—"बोलो, तुम कहा जाना चाहते हो, स्वर्ग मे या नरक मे ?" वह बोला—'मुझे स्वर्ग और नरक से कुछ लेना-देना नही हे। जहा दो पैसो का लाभ हो वही भेज दे।

जब दृष्टिकोण अर्थ-प्रतिबद्ध हो जाता है तब व्यक्ति यह नही देखता कि यह स्वर्ग है या नरक। उसे तो दो पैसे चाहिए। ठीक यही बात आज हो रही है। आज का मनुष्य कहा अच्छाई है और कहा बुराई है, इस बात की चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नही समझता। वह केवल इतना जानता है कि जहा सुविधा मिले, अधिकतम सुविधा, अधिकतम भोग, वही कल्याण है। यह एक दृष्टि बन गई। इस परिस्थिति मे और क्या कल्पना की जा

सकती है ? सभावना भी नही की जा सकती । इस स्थिति मे सघर्ष का बढना अनिवार्य है । हम एक ओर जाए । दोनो बातो को साथ लेकर न चले । दो घोडो की सवारी एक साथ नही की जा सकती । एक पर ही चढा जा सकेगा । या तो सुविधावाद पर चले फिर हिंसा होती है, उसे स्वीकार करे क्योकि यह इसका निश्चित परिणाम है । हम फिर क्यो घवराए और क्यो कष्ट का अनुभव करें ? हम यह सोचते है कि सामाजिक जीवन मे अधिकतम अहिसा या शाति हो, उपद्रव न हो, अपराध न हो, आक्रामक मनोवृत्तिया न हो, आतकवाद न हो, तो फिर सुविधावादी दृष्टिकोण को बदलना होगा । दोनो बाते साथ नहीं चल सकती । हमे एक का चुनाव करना पडेगा । अधर मे त्रिशकु की स्थिति बन जाती है । यह समय है चुनाव करने का । मैं यह नही कह रहा हू कि सुविधा न भोगें । यह कैसे कहा जा सकता है ? एक सामाजिक प्राणी, समाज मे जीने वाला सुविधा का अनुभव न करे, यह कैसे सभव है ? सुविधा को भोगना एक बात है और सुविधावादी दृष्टिकोण होना दूसरी बात है । जो सुविधा प्राप्त है उसका उपभोग करने मे अनर्थ जैसा मुझे कुछ नही लगता, किन्तु जब येन-केन प्रकारेण सुविधा ही प्राप्त करने का दृष्टिकोण बन जाता है, तब समस्याए पैदा होती है ।

कहा जाता है कि यह वैज्ञानिक युग है । इस युग ने मनुष्य के लिए सुविधा के बहुत साधन जुटाए है । यह स्वीकार करने मे कोई कठिनाई नही है । ऐसा हुआ है । विज्ञान ने सुविधा के साधन जुटाए है तो साथ-साथ मे उद्दण्डता, उच्छृखलता और अपराध के साधन भी जुटाए है । दोनो बाते साथ-साथ चल रही है ।

एक व्यक्ति के पास फ्रीज है, पखा है, वातानुकूलन है । ये सारी सुविधाए उसे प्राप्त है । मोटरकार है, रेडियो है, टेलीविजन है, सब कुछ है तो दूसरा व्यक्ति भी ललचाएगा । वह सोचेगा कि इसको इतनी सुविधा प्राप्त है तो मुझे क्यो नही होनी चाहिए । एक वह जमाना था कि यदि किसी बडे आदमी को सुविधा प्राप्त होती तो वह यह सोचता कि मै तब तक उस सुविधा का भोग नही करूगा जब तक यह सर्वसुलभ न बन जाए । जो बडा आदमी है, जिसे सब कुछ प्राप्त है, वह उसको त्यागेगा और सयम मे रहेगा तो दूसरो के मन मे एक निष्ठा पैदा होगी ।

महामात्य चाणक्य को उद्धृत किया जा सकता है । मुद्राराक्षस ग्रन्थ मे चाणक्य का जो वर्णन किया है, वह हृदयवेधी और मार्मिक है ।

चाणक्य एक कुटिया मे रहता था । वहा कुछ उपले पड़े थे । कुछ पत्थर पडे थे । कुछ चीजे पड़ी थीं । इतनी साधारण कुटिया, इतने साधारण उपकरण कि जिनके बारे मे सोचा ही नही जा सकता । वह एक बडे साम्राज्य का प्रधानमन्त्री, सर्वेसर्वा, सचालक था । वह इतनी साधारण स्थिति मे रह

सकता है, कल्पना नही की जा सकती।

अकाल का मौसम। सर्दी आई। सर्दी मे गरीबो की बुरी हालत थी। जनता के द्वारा नए कंबल इकट्ठे किए गए। कंबलो का ढेर लगा है कुटिया के पास और महामात्य चाणक्य अपनी कुटिया मे सो रहा है। चोरो का मन कंबल चुराने के लिए ललचा गया। चोरो ने सोचा, चोरी का अच्छा अवसर है और अवसर को खोना भी समझदारी की बात नही है। कुछ चोर आए। उन्होंने देखा और नए कंबल उठा लिए। फिर भीतर देखा। और जब आदमी भीतर देखता है तो मन:स्थिति बदल जाती है। भीतर कुटिया मे देखा कि महामात्य चाणक्य सो रहा है और वह एक पुराना कबल ओढे हुए है। यह देख चोरो का दिल भी बदल गया। उन्होने सोचा, देखा, इतने सारे कबल पडे है, इतना सब कुछ है, फिर भी महामात्य मात्र एक पुराना कंबल लपेटे सो रहे है और हम चोरी करके कबल ले जा रहे है। दिल बदल गया। सारे कंबल वही छोडकर चले गए।

ये बाते कहानी जैसी लगती है। आज हमारी समझ मे नही आती कि ऐसा भी हो सकता है क्या ? आज के चिंतन मे ये बाते फिट नही बैठती। कोई ऐसा फ्रेम बनाना होगा जिसे विचारो की खिड़की मे फिट किया जा सके ?

आज सास्कृतिक मूल्यों का अन्तर आ गया और वह आया है हमारे ही दृष्टिकोण के कारण। इन सारी घटनाओ के सन्दर्भ मे हम फिर विचार करे कि यदि सुख और शाति से जीना है तो अहिंसा की आस्था पैदा करनी होगी। और अहिंसा की आस्था पैदा करनी है तो सुविधावादी और पदार्थ-वादी दृष्टिकोण को बदलना होगा। पदार्थ का भोग करते हुए भी, सुविधा का भोग करते हुए भी, दृष्टिकोण सुविधावादी और पदार्थवादी न रहे। इस सकरी गली मे से हमे गुजरना होगा। यह बहुत सकरी गली है पर इसमे से गुजरे बिना हम सामाजिक मूल्यो के विकास की बात या शातिपूर्ण जीने की बात सोच ही नही सकते। इसलिए हमे कष्ट-सहिष्णुता या सहिष्णुता का विकास करना होगा।

अहिंसा का चौथा तत्त्व है—स्व-नियन्त्रण, अपने आप पर नियन्त्रण। अपने आवेशों पर नियन्त्रण किए बिना अहिंसा की कल्पना ही नही की जा सकती। हमारे अनियन्त्रित आवेग ही हमारी वृत्तियो को हिंसक बना रहे है।

जीवन विज्ञान का प्रयोग स्व-नियन्त्रण का प्रयोग है। इसके द्वारा व्यक्ति अपने आवेगो पर नियन्त्रण प्राप्त करने की कला सीख सकता है। स्व-नियन्त्रण का लाभ है—अपने प्रति अहिंसक होना।

हमे जागतिक अहिंसा—सार्वभौम अहिंसा की बात एक बार छोड देनी चाहिए। हमारा सीधा प्रयत्न विश्व-शाति, विश्व-बधुता के लिए होता

है। हमे पहले यह सोचना चाहिए कि अपने मे शाति और अपने मे बंधुता है या नही ? अपने भाई के साथ तो बन्धुता का व्यवहार नही है और श्लोक दोहराया जाता है—'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकं।" यह कितनी बड़ी विडम्बना हो जाती है। यह बात समझ में नही आती। हमे इस बात में बहुत विश्वास होना चाहिए कि अपनी अहिंसा सबसे पहले होनी चाहिए। मैं दूसरे के प्रति अहिंसक बनूं, इससे पहले अपने प्रति अहिंसक बनू, इसका विकास होना जरूरी है। हम बहुत लम्बी-चौडी बातों मे न उलझें। पूरे राष्ट्र की समस्या, विश्व की समस्या, मानवजाति की समस्या—ये घोष बड़े अच्छे लगते है, कानों को प्यारे लगते है, एक बार दिमाग को झकृत भी करते हैं, किन्तु निष्पत्ति मे बहुत अर्थवान् नही होते। हमारे लिए सबसे ज्यादा अर्थवान् बात यह होगी कि हम अपने प्रति अहिसक बनें। जो व्यक्ति अपने प्रति अहिंसक है, वह दूसरे के लिए अभयंकर है और अपने आप में अभयकर है। किसी के लिए वह खतरा पैदा नही करता। अणुबमो का खतरा है, यह स्वीकारते हुए भी हम इस बात को न भूलें कि वह खतरा होगा, नही कहा जा सकता। और होगा तो सारे संसार को होगा, फिर चिता की बात ही क्या है ? किन्तु खतरा तो अपने आप मे हो रहा है।

एक सैनिक से किसी ने पूछा—तुम सेना मे भर्ती हुए हो, तुम्हे डर नही लगता ? वह बोला—डर किस बात का ? उसने कहा—लडाई में जाना पडेगा, मौत के मुह मे जाना पडेगा। सैनिक बोला—"मुझे कोई डर नही लगता। मैं सेना मे हू लड़ाई होगी या नही होगी, क्या पता ? कल्पना करो कि लडाई होगी तो मेरा नम्बर मोर्चे पर जाने का आएगा या नहीं आएगा, क्या पता ? यह कल्पना करो कि मेरा नम्बर अगले मोर्चे पर जाने का आएगा तो मैं मरूंगा या नही मरूंगा क्या पता ? और यह कल्पना करो कि मरने का नम्बर आया तो फिर डर किसको लगेगा। जो मर गया उसे तो डर लगेगा नही, तो पहले ही मैं क्यों मरू ? पहले मरने की जरूरत क्या है ? कोई आवश्यकता नही।"

जो व्यक्ति अपने आप मे इतना विश्वस्त होता है वह अपने प्रति अभय और अहिंसक हो जाता है। हम अहिंसा के सिद्धान्त की चर्चा करते है और लम्बी-चौड़ी चर्चा करते है। वह जब बडे आदमी के समझ मे नही आती तो छोटे विद्यार्थी के समझ मे कहा से आएगी ?

हम जीवन-विज्ञान के सन्दर्भ मे इस चर्चा को एक नया मोड़ दें। वह यह कि तुम दूसरे की बात छोड़ो, अपने प्रति अहिंसक बनो। अगर तुम अपने प्रति अहिंसक बनोगे तो इसका पहला परिणाम तो यह होगा कि आत्महत्या से बच जाओगे।

आज शिक्षा के क्षेत्र मे भी आत्महत्या की बात होती है। विद्यार्थी

अनुत्तीर्ण होता है और मरने की बात सोच लेता है। थोडा-सा पारिवारिक झझट हुआ कि मरने की बात सोच लेता है। मनचाही बात नही हुई कि घर से भाग जाता है, आत्महत्या तक कर लेता है। यह सारा अपने पर नियन्त्रण न कर सकने के कारण होता है। इसलिए स्व-नियन्त्रण की बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। हम अपने पर नियन्त्रण कर सके, यह बहुत मूल्यवान् बात है। जिसने अपने आवेगो पर नियन्त्रण करना सीख लिया, वह अपने प्रति अहिंसक बन गया। जो अपने प्रति अहिंसक बन गया, वह दूसरो के लिए भी अहिंसक बन गया। हम केवल दूसरो के प्रति उसे अहिंसक बनाएगे, तो वह बन नही पाएगा। क्योंकि भीतर मे आग लग रही है, भट्टी जल रही है और बाहर शाति की बात करें, यह कैसे सम्भव है? पहले अपने भीतर की आग को शांत करना है, उस भट्टी को बुझाना है। वह बुझेगी तो अपने आप शान्ति हो जाएगी। फिर शान्ति के लिए अलग से प्रयत्न नही करना पडेगा। इसलिए स्व-नियन्त्रण बहुत महत्त्वपूर्ण है।

अहिंसा की आस्था उत्पन्न करने मे बाधाए भी कमजोर नही है, बहुत प्रबल है। जब तक उन बाधाओ पर विचार नही करेगे तब तक केवल आस्था उत्पन्न करने की बात ज्यादा सार्थक नही बनेगी। सबसे पहली बाधा है—हमारी धारणा। हम मान बैठे है कि समाज की प्रतिकूल परिस्थिति मे, प्रतिकूल वातावरण मे, आर्थिक वैषम्य वाले वातावरण मे, अहिंसा की बात कैसे सोची जा सकती है? कब तक सोची जा सकती है? और इसलिए कुछ राजनैतिक प्रणालियो मे हिंसा का समर्थन किया गया है।

सामाजिक व्यवस्था, समतापूर्ण सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक समानतावाली सामाजिक व्यवस्था को लाने के लिए हिंसा का सहारा भी लिया जा सकता है—इस विचारधारा ने काफी लोगो को आकृष्ट भी किया है। पर समय के साथ यह बात बहुत स्पष्ट होती गई कि स्व-नियन्त्रण का विकास हुए बिना, हिंसा के द्वारा नियन्त्रित सामाजिक प्रणाली भी बहुत अच्छी नही हो सकती। और उसका यह रूप सामने आया कि इतने नियन्त्रण मे भी आदमी जैसा चाहिए वैसा नही बना। समस्याए है उनके साथ-साथ और ऐसी टिप्पणिया देखने को मिलती है कि इतने नियन्त्रण के बाद भी आदमी का हृदय नही बदला, मस्तिष्क नही बदला। इतने प्रयोग हुए, पर आदमी बदला हो गया नही लग रहा है। इसका कारण यही है कि बदलने की बात तो है भीतर और नियन्त्रण की बात है बाहर। बाहर से आप भले ही आदमी को बाध के रख दें, किंतु भीतर मे उसका प्रभाव नही हुआ तो जैसे ही बन्धन खुले वह वैसा करने को तैयार हो जाएगा। यहा कोई बदलाव की स्थिति नहीं है। यह तो एक निरोध की स्थिति है। अब किसी को कारावास मे डाल दिया, वह चोरी कैसे करेगा? किंतु कारावास मे ऐसे बहुत से लोग है कि

जो अनेक बार अपराध कर-कर कारावास मे आते हैं। उनमे परिवर्तन परिलक्षित नही होता।

अहिंसा पर विचार करते समय हमे बाधाओ पर भी विचार करना होगा। एक बड़ी बाधा है—धारणा की। धारणा का परिवर्तन जरूरी है।

प्रश्न होता है कि क्या परिस्थिति शक्तिशाली है या चेतना शक्तिशाली है? यदि परिस्थिति शक्तिशाली है तो फिर उसे बदलने का कोई उपाय नही है। जो परिस्थिति है, जैसी है वैसी ही रहेगी। उसे हम बदल ही नही सकते। किंतु चेतना बहुत शक्तिशाली है। परिस्थिति को बदलती कौन है और परिस्थिति का निर्माण कौन करती है? मनुष्य की चेतना ने ही परिस्थिति का निर्माण किया है और मनुष्य की चेतना ने ही परिस्थिति को बदला है। यह स्पष्ट हो गया कि हमारी चेतना अधिक शक्तिशाली है तो फिर हम परिवर्तन कहा से शुरू करें? चेतना से शुरू करे। आस्था पैदा करनी है, वह चेतना मे करनी है, न कि परिस्थिति मे। हमारी चेतना मे आस्था का बीज बोना है। और मुझे इसमे बहुत विश्वास है कि एक बच्चे मे यदि सही ढंग से आस्था उत्पन्न की जाए तो वह प्रतिकूल परिस्थिति के बावजूद भी अच्छे मार्ग पर चल सकता है। ऐसी घटनाए हमारे सामने बहुत बार आती हैं कि माता-पिता का आचरण अनैतिकतापूर्ण है। पिता व्यापार करता है अनैतिकतापूर्ण, किंतु उसका बच्चा बिलकुल नैतिकता मे निष्ठा रखने वाला है और वह पिता को साफ-साफ कहता है—पिताजी, दूसरो को धोखा देकर, छलनापूर्ण व्यवहार कर आप इतना धन कमाते हैं, क्या धन को साथ मे ले जाएगे? मुझे ऐसा धन नही चाहिए? आप किसलिए करते है? यह अन्तर क्यो आया? परिस्थिति दोनो के सामने एक थी। फिर अन्तर क्यो आया? यह चेतना का अन्तर है। प्रतिकूल परिस्थिति मे भी चेतना का विकास किया जा सकता है, यह सही घोष है।

हमारी यह प्रतिबद्धता नही होनी चाहिए कि जैसी परिस्थिति होगी, वैसा आदमी होगा। बल्कि इस स्थान पर हमारा यह घोष होना चाहिए कि जैसी आस्था होती है, वैसा आदमी होता है। जैसा सकल्प होता है, वैसा आदमी बनता है। समाजशास्त्र का एक सूत्र बना दिया गया कि जैसी परिस्थिति होती है, वैसा आदमी होता है। यानी आदमी परिस्थिति की उपज है। इस सूत्र ने बहुत भ्रातिया पैदा कर दी है।

अध्यात्म का या भारतीय चिंतन का सूत्र है कि जैसी आस्था होती है, वैसा मानस होता है, वैसा आदमी होता है। अगर यह नही होता तो प्रतिकूल परिस्थिति मे ईमानदार आदमी जन्म लेना ही बन्द कर देता। वह पैदा ही नही होता। फिर उसे बदलने का प्रश्न ही नही होता। हमे एक [illegible] देने की [illegible] है, एक आस्था पैदा करने की [illegible] है। उसके लिए पहले

अनुत्तीर्ण होता है और मरने की बात सोच लेता है। थोडा-सा पारिवारिक झंझट हुआ कि मरने की बात सोच लेता है। मनचाही बात नही हुई कि घर से भाग जाता है, आत्महत्या तक कर लेता है। यह सारा अपने पर नियन्त्रण न कर सकने के कारण होता है। इसलिए स्व-नियन्त्रण की बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। हम अपने पर नियन्त्रण कर सके, यह बहुत मूल्यवान् बात है। जिसने अपने आवेगो पर नियन्त्रण करना सीख लिया, वह अपने प्रति अहिंसक बन गया। जो अपने प्रति अहिंसक बन गया, वह दूसरो के लिए भी अहिंसक बन गया। हम केवल दूसरो के प्रति उसे अहिसक बनाएगे, तो वह बन नही पाएगा। क्योकि भीतर मे आग लग रही है, भट्टी जल रही है और बाहर शाति की बात करे, यह कैसे सम्भव है ? पहले अपने भीतर की आग को शात करना है, उस भट्टी को बुझाना है। वह बुझेगी तो अपने आप शान्ति हो जाएगी। फिर शान्ति के लिए अलग से प्रयत्न नही करना पडेगा। इसलिए स्व-नियन्त्रण बहुत महत्त्वपूर्ण है।

अहिंसा की आस्था उत्पन्न करने मे बाधाए भी कमजोर नही है, बहुत प्रबल है। जब तक उन बाधाओ पर विचार नही करेगे तब तक केवल आस्था उत्पन्न करने की बात ज्यादा सार्थक नही बनेगी। सबसे पहली बाधा है—हमारी धारणा। हम मान बैठे है कि समाज की प्रतिकूल परिस्थिति मे, प्रतिकूल वातावरण मे, आर्थिक वैषम्य वाले वातावरण मे, अहिंसा की बात कैसे सोची जा सकती है ? कब तक सोची जा सकती है ? और इसलिए कुछ राजनैतिक प्रणालियो मे हिसा का समर्थन किया गया है।

सामाजिक व्यवस्था, समतापूर्ण सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक समानतावाली सामाजिक व्यवस्था को लाने के लिए हिसा का सहारा भी लिया जा सकता है—इस विचारधारा ने काफी लोगो को आकृष्ट भी किया है। पर समय के साथ यह बात बहुत स्पष्ट होती गई कि स्व-नियन्त्रण का विकास हुए बिना, हिसा के द्वारा नियन्त्रित सामाजिक प्रणाली भी बहुत अच्छी नही हो सकती। और उसका यह रूप सामने आया कि इतने नियन्त्रण मे भी आदमी जैसा चाहिए वैसा नही बना। समस्याए है उनके साथ-साथ और ऐसी टिप्पणियां देखने को मिलती है कि इतने नियन्त्रण के बाद भी आदमी का हृदय नही बदला, मस्तिष्क नही बदला। इतने प्रयोग हुए, पर आदमी बदला हो ऐसा नहीं लग रहा है। इसका कारण यही है कि बदलने की बात तो है भीतर और नियन्त्रण की बात है बाहर। बाहर मे आप भले ही आदमी को बाध के रख दें, किंतु भीतर मे उसका प्रभाव नही हुआ तो जैसे ही बन्धन खुले वह वैसा करने को तैयार हो जाएगा। यहा कोई बदलाव की स्थिति नही है। यह तो एक निरोध की स्थिति है। जब किसी को कारावास मे डाल दिया, वह चोरी कैसे करेगा ? किंतु कारावास मे ऐसे बहुत से लोग है कि

जो अनेक बार अपराध कर-कर कारावास मे आते है। उनमे परिवर्तन परिलक्षित नही होता।

अहिंसा पर विचार करते समय हमे बाधाओ पर भी विचार करना होगा। एक बडी बाधा है—धारणा की। धारणा का परिवर्तन जरूरी है।

प्रश्न होता है कि क्या परिस्थिति शक्तिशाली है या चेतना शक्तिशाली है ? यदि परिस्थिति शक्तिशाली है तो फिर उसे बदलने का कोई उपाय नही है। जो परिस्थिति है, जैसी है वैसी ही रहेगी। उसे हम बदल ही नही सकते। किंतु चेतना बहुत शक्तिशाली है। परिस्थिति को बदलती कौन है और परिस्थिति का निर्माण कौन करती है ? मनुष्य की चेतना ने ही परिस्थिति का निर्माण किया है और मनुष्य की चेतना ने ही परिस्थिति को बदला है। यह स्पष्ट हो गया कि हमारी चेतना अधिक शक्तिशाली है तो फिर हम परिवर्तन कहा से शुरू करे ? चेतना से शुरू करें। आस्था पैदा करनी है, वह चेतना मे करनी है, न कि परिस्थिति मे। हमारी चेतना मे आस्था का बीज बोना है। और मुझे इसमे बहुत विश्वास है कि एक बच्चे मे यदि सही ढग से आस्था उत्पन्न की जाए तो वह प्रतिकूल परिस्थिति के बावजूद भी अच्छे मार्ग पर चल सकता है। ऐसी घटनाएं हमारे सामने बहुत बार आती है कि माता-पिता का आचरण अनैतिकतापूर्ण है। पिता व्यापार करता है अनैतिकतापूर्ण, किंतु उसका बच्चा बिलकुल नैतिकता मे निष्ठा रखने वाला है और वह पिता को साफ-साफ कहता है—पिताजी, दूसरो को धोखा देकर, छलनापूर्ण व्यवहार कर आप इतना धन कमाते है, क्या धन को साथ मे ले जाएंगे ? मुझे ऐसा धन नही चाहिए ? आप किसलिए करते है ? यह अन्तर क्यो आया ? परिस्थिति दोनो के सामने एक थी। फिर अन्तर क्यों आया ? यह चेतना का अन्तर है। प्रतिकूल परिस्थिति मे भी चेतना का विकास किया जा सकता है, यह सही घोष है।

हमारी यह प्रतिबद्धता नही होनी चाहिए कि जैसी परिस्थिति होगी, वैसा आदमी होगा। बल्कि इस स्थान पर हमारा यह घोष होना चाहिए कि जैसी आस्था होती है, वैसा आदमी होता है। जैसा सकल्प होता है, वैसा आदमी बनता है। समाजशास्त्र का एक सूत्र बना दिया गया कि जैसी परिस्थिति होती है, वैसा आदमी होता है। यानी आदमी परिस्थिति की उपज है। इस सूत्र ने बहुत भ्रातिया पैदा कर दी है।

अध्यात्म का या भारतीय चिंतन का सूत्र है कि जैसी आस्था होती है, जैसा सकल्प होता है, वैसा आदमी होता है। अगर यह नही होता तो प्रतिकूल परिस्थिति मे ईमानदार आदमी जन्म लेना ही बन्द कर देता। वह पैदा ही नही होता। फिर उसे बदलने का प्रयत्न ही नही होता। हमे एक सकल्प लेने की जरूरत है, एक आस्था पैदा करने की जरूरत है। उसके लिए पहले

हमारी धारणाओं को स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

हिंसा के विरोध मे और अहिंसा के विकास मे सबसे पहली बाधा है—गलत मान्यता और धारणा। दूसरी बाधा है—हिंसा का संस्कार।

हिंसा के अपने संस्कार है। हम परिवर्तन की बात सोचते है किंतु इस बात से अनभिज्ञ नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने कर्मजनित सस्कार होते है। यह कोई जादू का खेल नही कि थोडा-सा कुछ किया और सबके सब बदल गए। ऐसा कोई जादू का डडा नही है कि घुमाया और सब कुछ बदल गया। हिंसा के अपने-अपने सस्कार हैं। एक व्यक्ति मे हिंसा के तीव्र संस्कार होते है, दूसरे व्यक्ति मे हिंसा के सस्कार कम होते है। तारतम्य है और इतना तारतम्य कि सोच ही नही सकते। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी योग्यता की तरतमता है। हम ऐसा तो नहीं कर सकते कि एक राजकीय आदेश या राष्ट्रपति का अध्यादेश निकाला और वह लागू हो गया। हमे इस सचाई को मानकर चलना पड़ेगा कि यह एक वैयक्तिक विशेषता है। अपने-अपने सस्कार है, इसलिए सबसे हम यह आशा नही कर सकते कि सब में यह आस्था उत्पन्न हो जायेगी। फिर भी हम निराश न हो। हमारी अपनी आस्था यह होनी चाहिए कि प्रयोग के द्वारा, प्रयत्न के द्वारा, अभ्यास के द्वारा ससार को भी परिष्कृत किया जा सकता है। हम सर्वथा परतन्त्र नही है उस सस्कार से। संस्कार है, इतना तो हम स्वीकार करेगे और सस्कार हमे सचालित कर रहा है, इसे भी हम अस्वीकार नही करेंगे किंतु हम केवल परतन्त्र नही है, संस्कार की कठपुतली नही है। हम प्रयत्न के द्वारा, अभ्यास के द्वारा संस्कार को बदल सकते है, उसमे परिष्कार ला सकते है। यह क्षमता भी हमारे भीतर है।

इस विघ्न या बाधा को मिटाने के लिए हमारा अभ्यास हमें बहुत सहायता देता है। इस दृष्टि से भी अभ्यास का महत्त्व बढ़ जाता है कि यदि हमारा प्रयत्न है, अभ्यास है तो हम सस्कार पर विजय पा सकते है, उसे परिष्कृत कर सकते है।

अहिंसा के अनेक विघ्न है, हिंसा के अनगिन कारण है। आज इतना ही चिंतन करें कि एक नये सकल्प और नई आस्था का निर्माण हो और वह बचपन से हो, शिक्षा के क्षेत्र मे हो, धर्म के क्षेत्र मे हो और अध्यापक या धर्मगुरु के द्वारा हो। आज दो ही स्थान ऐसे है जहा मे कुछ आशा की जा सकती है। एक तो है—धर्म का क्षेत्र और दूसरा है—शिक्षा का क्षेत्र। इसके अतिरिक्त तीसरा क्षेत्र कोई दिखाई नही दे रहा है। किंतु धर्म के क्षेत्र मे भी आज अधिक मूल्यवान् बन गया है शिक्षा का क्षेत्र, क्योंकि आज का विद्यार्थी जितना शिक्षा मे जुड़ा हुआ रहता है उतना धर्म मे नहीं। पहले तो घर के

वातावरण में माता-पिता बच्चे को धर्म का पाठ पढाते पर आज वह भी छूट गया है। इसलिए यह चिंतन किया गया कि शिक्षा के क्षेत्र मे ही यदि आस्था के कुछ बीज बोने की बात सोची जाए तो शायद सामाजिक मूल्यो के विकास की बात आगे बढ़ सकती है, उसका सुपरिणाम आ सकता है।

समाज का आधार : अहिंसा का विकास

हम जिसे चाहते है और हम जिसे नही चाहते—दोनों बाते दुनिया मे चल रही है। अहिंसा को चाहते है, उसका विकास कम हो रहा है। हिंसा को नही चाहते, उसका विकास अधिक हो रहा है। हमारी चाह पर सब बाते निर्भर नही हैं।

आज हिंसा का विकास हो रहा है। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि अहिसा के विकास मे विघ्न उपस्थित हो रहे है। विघ्न सात है—

१. हिंसा का सस्कार

२ कर्म का सस्कार या जीन

३. परिस्थिति या वातावरण

४. शरीरगत रसायन

५ अनास्था

६. अप्रयत्न

७ प्रशिक्षण और अनुसधान की कमी।

पहला विघ्न है—हिंसा का सस्कार, जिसकी चर्चा हम कर चुके है। दूसरा विघ्न, आज जो माना जाता है, वह है 'जीन'। जीनेटिक इन्जीनियरिंग मे मानव व्यवहार के लिए जीन को उत्तरदायी बतलाया गया। जिस प्रकार का जीन होता है, सस्कार-सूत्र होता है, आदमी वैसा ही व्यवहार करता है। व्यवहार का उत्तरदायित्व जीन पर आरोपित किया गया। तुलनात्मकदृष्टि से विचार करें तो कर्म-शास्त्रीय भाषा मे कर्म का सस्कार और विज्ञान की भाषा मे या आनुवंशिकी भाषा मे 'जीन'। ये दोनो बहुत निकट आ जाते है। इन दोनो को परिवर्तित करना कठिन माना जाता है। कर्म-सस्कार को बदलना और जीन को बदलना सरल काम नही है। और इसी-लिए जगत् की यह सारी विविधता है।

एक व्यक्ति बहुत अच्छा व्यवहार करता है, दूसरा बुरा व्यवहार करता है, तीसरा उससे और अधिक बुरा व्यवहार करता है, चौथा और अधिक बुरा व्यवहार करता है। यह अन्तर इसलिए आता है कि सबके कर्म-सस्कार भिन्न-भिन्न है या आनुवशिकी भाषा मे सबका जीन भिन्न-भिन्न है, इसीलिए सबका व्यवहार एक जैसा नही होता। इसे बदलना बहुत प्रयत्न-साध्य है, सरल नहीं है। जो व्यक्ति साधना के क्षेत्र मे बहुत प्रयत्नशील होता है, वही इन्हे बदल सकता है। बदलना सम्भव है। पर उतना परम पुरुषार्थ

करना हर व्यक्ति के वश की वात नही है और हर कोई व्यक्ति उतना पुरुपार्थ करना भी नही चाहता।

अहिंसा के विकास का तीसरा विघ्न है—परिस्थिति या वातावरण। यह विघ्न कर्म-सस्कार या जीन जैसा प्रवल नहीं है। इन दो का पार पाना कठिनतर कार्य है। हम इनकी सीमा पार कर चुके है। अव दूसरे सारे जो विघ्न है वे वदले जा सकते है, और उन्हे वदलना सरल कार्य है। परिस्थिति है हिंसा की, इसमे कोई सन्देह नही है। आदमी जिस दुनिया मे जीता है वहा हिंसा का वातावरण भी है, हिंसा की परिस्थितिया भी है। परिस्थितिया हिंसा के लिए उत्तेजना पैदा कर रही है। एक व्यक्ति शात है, किंतु दूसरा व्यक्ति भडकाने वाली प्रवृत्तिया करता है तो जो शात है, वह भी हिंसोन्मुख वन जाता है। ऐसा वहुत वार होता है। पडोसी यदि दुष्ट स्वभाव वाला है, हिंसा में विश्वास करने वाला है और वह अवाछनीय प्रवृत्ति करता है तो जो अच्छा व्यक्ति है, अच्छे स्वभाव वाला है, उसमे उत्तेजना के वीज अकुरित हो जाते है।

एक पडोसी ने अपने घर से कूडा-कचरा निकाला और पास वाले घर के सामने डाल दिया। पास वाले ने देखा और कहा—भाई! ऐसा क्यो करते हो? ऐसा करना तो अच्छा नही है। थोडा आगे जाओ और कचरा वहा डालो जहां किसी का मकान न हो। तुम अपने घर मे निकले और मेरे घर के सामने कचरा डाल गए, इमसे क्या लाभ हुआ? उसने कहा—जहा स्थान मिला वहा डाल दिया। मैं क्या कर सकता हू? इतना रूखा उत्तर दिया। उसे एक वार समझाया, दो वार समझाया, तीन बार समझाया। वह नहीं माना। उस स्थिति मे प्रतिक्रिया पैदा होना या प्रतिक्रियात्मक हिंसा का भाव पैदा होना स्वाभाविक है।

एक है क्रियात्मक हिंसा और दूसरी है प्रतिक्रियात्मक हिंसा। इस प्रतिक्रिया की स्थिति मे एक सिद्धात वनता है कि ईंट का जवाव पत्थर सें दो। यह क्रियात्मक सिद्धान्त नही है। यह प्रतिक्रियात्मक सिद्धात है। जव व्यक्ति के मन मे प्रतिक्रिया पैदा हो जाती है तो फिर वह इस प्रकार के सिद्धात का निर्माण करता है।

उस व्यक्ति के मन मे प्रतिक्रिया पैदा हो गई। उसने सोचा यह ऐसे नहीं मानेगा। उसने भी कूड़े-करकट के साथ अपने घर की सारी गदगीं उसके घर के सामने डाल दी।

यह हिंसा के प्रति हिंसा है। यह है एक परिस्थिति की विवशताजनित हिंसा, प्रतिक्रियात्मक हिंसा। यह परिस्थिति से पैदा होने वाली प्रतिक्रिया अहिंसा के सामने वहुत वडा विघ्न है।

एक घटना है। पडोसी नीचे रहता फ्लेट सिस्टम मे। वह मिगडी

जलाता और ऐसे स्थान पर रखता जहा से धुआं ऊपर वाले के वहां जाता। उसे कहा जाता तो उत्तर मिलता—'मैं कुछ भी नही कर सकता। धुएं का स्वभाव ऊपर जाने का है।' एक बार, दो बार, चार बार समझाने पर भी वह नही माना। तब फिर ऊपर वाले ने अपनी फर्श के एक छेद किया। अब गदी नाली से पानी नीचे आने लगा। नीचे वाले ने शिकायत की, देखो, गदा पानी नीचे आ रहा है, इतना भी ध्यान नही रखते? वह बोला—'मैं क्या कर सकता हू, धुएं का स्वभाव ऊपर जाने का है तो पानी का स्वभाव नीचे जाने का है।' जैसे को तैसा।

यह प्रतिक्रियात्मक हिंसा है। सामाजिक जीवन मे इस प्रकार की स्थितिया बहुत बनती है। साम्यवाद की कल्पना या क्रियान्विति सामने आई तब नक्सली बने। अन्यान्य भी जो रक्त-क्रातिया या हिंसक घटनाएं हुई उन सबके पीछे प्रतिक्रियात्मक स्थिति ही काम कर रही है। सामाजिक जीवन मे जहा इतनी विषमता होती है कि एक व्यक्ति बहुत शानदार ढग से जीवन जीता है, फिजूल खर्ची करता है, अनावश्यक भोग करता है और धन का अतिरिक्त ढेर लगा देता है और दूसरे व्यक्ति को खाने को रोटी नही मिलती उस स्थिति मे प्रतिक्रियात्मक हिंसा को बल मिलता है। यह बहुत स्वाभाविक बात है और जहा भी विश्व के किसी भी कोने मे, किसी भी अचल मे, इस प्रकार की घटनाए घटित हुई है, उन सबकी पृष्ठभूमि मे प्रतिक्रियात्मक हिंसा काम करती रही है।

एक व्यक्ति के साथ बहुत अन्याय हुआ। कही सुनवाई नही हुई और वह डाकू बन गया। इतना क्रूर डाकू बना कि उसने पचासो व्यक्तियो को मौत के घाट उतार दिया और न जाने कितनी डकैतिया की। डाकू बनने के पीछे भी बहुत सारी प्रतिक्रियात्मक परिस्थितिया होती है और ऐसी घटनाए सामने आती है। ये सामाजिक परिस्थितिया अहिंसा के विकास मे बहुत बाधक है। यदि परिस्थिति, वातावरण और व्यवस्था समतापूर्ण नही होती, ज्यादा असतुलित होती है तो वहा हिंसा को बहुत बल मिलता है।

अहिंसा के विकास मे चौथा विघ्न है—शरीरगत। प्रश्न पैदा होगा कि परिस्थिति की जटिलता मे तो हिंसा को उत्तेजना मिलती है किन्तु ऐसे लोग भी हिंसा करते है जिनके सामने कोई परिस्थिति नही, कोई वातावरण नही। वे भी हिंसा मे बहुत रस लेते है। ऐसा क्यो होता है? इस पर हम चिन्तन करे। कोई भी बात एकागी दृष्टि से सही नही है और किसी घटना का एक ही कारण नही होता। हिंसा की जितनी घटनाएं है उनका एक ही कारण नही है, अनेक कारण है। इसलिए विश्लेषण करते समय हमे बहुत सूक्ष्मता से ध्यान देना होता है कि किसके पीछे क्या कारण रहा है?

हिंसा का एक कारण तंत्रिका के रसायन का असंतुलन भी है। हमारी तंत्रिकाओ मे पैदा होने वाले रसायन असंतुलित होते है तो व्यक्ति हिंसक बन जाता है, आक्रामक वन जाता है। आक्रामकवृत्ति मे शरीर की क्रिया का भी वहुत वड़ा भाग है।

एक सपन्न व्यक्ति है। उसके कोई कमी नही, कोई असतोष नही, सर्वथा सुखी, फिर भी उसमे हिंसा की वृत्ति जाग जाती है। एक व्यक्ति न चोर है, न डकैत है, कुछ भी नही। वह आदमी को मारने मे रस लेता है आदमी मिलता है और वह उसकी कनपटी को दवा कर मार डालता है। यह घटित घटना है। उसे न कोई लेना है, न कोई देना है। वह न धन लूटता है और न और कुछ। उसका केवल इतना ही नशा है कि आदमी को मार डालना।

ऐसा क्यो होता है ? तंत्रिका के रसायन असंतुलित बन जाते है और उस असतुलन के कारण हिंसा मे आदमी का रस पैदा हो जाता है। यह असंतुलन शरीरगत कारण है। आज शारीरिक तत्त्वो के कारण भी हिंसा को वल मिल रहा है। इसका सवध हमारे भोजन से भी है और पैदा होने वाले रसायनो से भी है।

वर्तमान मे फास्फोरस की मात्रा शरीर मे ज्यादा जा रही है और मेग्निशियम की मात्रा कम हो रही है। यह भी एक आक्रानक वृत्ति का कारण वनती है। शीशे की, तांवे की, जस्ते की मात्रा शरीर मे ज्यादा जाती है, व्यक्ति को आक्रामक वना देती है। आज के जो बर्तन है, वे देखने मे अच्छे लगते है,। लोग उन बर्तनों मे खाना पकाते है, दूध गर्म करते है, पर वे नही जानते की जस्ते से पुते हुए बर्तनो की चीजे पेट मे जाकर कितना नुकसान करती है। आज किसी से कहा जाए कि हाडी मे दूध गर्म करो, हाडी मे खिचडी पकाओ तो लोग कहेगे, किस शताब्दी की बात है। यह तो पिछडेपन की बात है। आज की शिप्टता मे तो ऐसी चकाचौध चाहिए जिसको देखते ही मन ललचा जाए। इस वात का उनको पता नही है कि हाडी में गर्म किया हुआ दूध, खिचडी, कढी विलकुल नुकसान नही करती और इन बर्तनों में पकाये हुए खाद्य या पेय पदार्थ पेट मे जाकर कितना नुकमान करते है ? भडकाने वाली कितनी वृत्तिया पैदा करते है ? कलह की वृत्ति, सघर्ष की वृत्ति, उत्तेजना की वृत्ति और असहिष्णुता की वृत्ति जो बनी है उसके पीछे अनेक कारणो मे यह भी एक कारण है।

स्वाद मे भी अन्तर रहेगा। कडाही मे गर्म किए दूध का जो स्वाद होगा वह कलई चढे वर्तन मे गर्म किए दूध मे कभी नही होगा।

उपयोग मे आने वाले अनेक पदार्थ हमारी वृत्तियो को प्रभावित करते है। किन्तु अव सभ्यता या सुविधा के साथ स्थितियां इतनी वदल गईं और

मांग इतनी बढ गई कि इन स्थितियो मे पीछे लौट आना संभव नही लगता। आदमी जानते हुए भी इस बात को मानने के लिए तैयार नही है कि फिर से मिट्टी के वर्तनो मे रसोई पकाई जाए। यह मात्र कल्पना जैसी बात होगी। किन्तु फिर भी हमे इस सचाई को स्वीकार तो करना ही पडेगा कि ये परिस्थितिया भी हमारी बदली हुई भावनाओ के कारण पैदा हुई हैं।

समग्रदृष्टि से देखे तो शरीर की क्रिया, शरीर मे पैदा हुए रसायन और शरीर मे जाने वाली धातुए भी अपना परिणाम जताती है और हिंसा की निमित्त बनती है। यदि हमारे नाडीतत्र का दाया भाग अधिक सक्रिय होता है तो उद्दण्डता और उच्छृखलता की वृत्ति पैदा होती है। इस प्रकार शारीरिक कारण भी अहिसा के विकास मे बाधा पहुंचा रहे है।

अहिंसा के विकास का पाचवा विघ्न है—अनास्था। हमारी अहिंसा मे आस्था नही है, अनास्था है। किसी भी व्यक्ति से पूछें, वह कहेगा, अहिंसा से कोई काम नही चल सकता, डडे से ही काम चलेगा। यह मान लिया गया कि अणु-अस्त्रो का विकास शक्ति-सतुलन के लिए, विश्व-शाति के लिए है। लोग खतरा महसूस करते है कि अणु-अस्त्रो से विश्व का विनाश होगा, किन्तु जिन राष्ट्रो के पास अणु-अस्त्र है वे इसका समाधान देते हुए कहते हैं कि अणु-अस्त्रो का अम्बार शक्ति-सतुलन के लिए है। अगर एक राष्ट्र के पास अणु-अस्त्र है और दूसरे के पास नही है तो जिसके पास है, वह सारे संसार को नष्ट कर सकता है। किन्तु जब दो के पास होते है तो कोई यह साहस नही कर सकता कि एक दूसरे पर आक्रमण करे। ऐसा पागलपन करने मे उसे संकोच होगा। यह सारा शक्ति-सतुलन के लिए है।

वास्तव में आदमी में अहिंसा के प्रति कोई आस्था नही है। आस्था है दड के प्रति, शस्त्र के प्रति। यह अनास्था भी अहिंसा के विकास मे बहुत बड़ा विघ्न है। आदमी ने कृत्रिम मान्यताए बना दी और उन्ही के कारण वह अहिंसा की बात सोच ही नही सकता। उसका बहुत सारा जीवन कृत्रिम मान्यताओ के आधार पर ही चलता है। उसकी अनेक वृत्तिया कृत्रिम मान्यताओ के आधार पर चल रही है।

यदि कभी हम एकांत के क्षणों मे विचार करें तो हमे स्वय पता चलेगा कि यथार्थ कितना है और कृत्रिमता कितनी है। बिना गहरे मे उतरे इसका पता नहीं चल सकता। क्योकि दो रूप बन जाते हैं, अतः भ्रम पैदा होता है। उस भ्रम का निरसन तभी हो सकता है जब सचाई सामने आए।

एक व्यक्ति विदेशयात्रा पर जा रहा था। अधिकारी ने कहा—तुम्हारा पासपोर्ट नकली है। उसने पूछा—कैसे ? अधिकारी बोला—पासपोर्ट मे लगे फोटो मे तुम्हारा सिर गजा है, और अभी तुम्हारे सिर पर काफी बाल है। इसलिए यह पासपोर्ट नकली है। वह बोला—महाशय! फोटो नकली

नही है, मेरे बाल नकली है।

आज मूल स्थिति को पकडने मे वडी समस्या हो रही है। अधिकारी भी भ्रम मे आ जाते है। हमने भी अपने जीवन के आस-पास इतने कृत्रिम सिद्धातो का एक जाल विछा रखा है, एक ऐसा ताना-वाना बुन रखा है कि सचाई को समझना बहुत कठिन हो रहा है।

अहिंसा के विकास का छठा विघ्न है—अप्रयत्न। अहिंसा के विकास की दिशा मे हमारा कोई प्रयत्न नही है। आस्था बने तव प्रयत्न हो सकता है। आस्था ही नही तो प्रयत्न भी नहीं होगा। हिंसा के लिए कितना प्रयत्न हो रहा है? सारे संसार मे शस्त्रो पर कितना खर्च हो रहा है? यदि शस्त्रो पर होने वाला खर्च मानव-कल्याण पर होने लगे तो कोई भी आदमी भूखा नही रह सकेगा। सारी गरीवी समाप्त हो जाएगी। फिर न स्वास्थ्य की चिन्ता, न रोटी की चिन्ता, न मकान की चिन्ता और न कपडे की चिन्ता रहेगी। यदि एक पचवर्षीय योजना की राशि, जो शस्त्रो पर खर्च होती है, उतनी राशि मानव-कल्याण मे लगे, गरीवों की समस्या को सुलझाने में लगे तो पांच वर्ष मे शायद ससार गरीवी से मुक्त हो जाए। हिंसा के अभ्यास का कितना प्रयत्न हो रहा है। पूर्वाभ्याम होता है, फौजियों की ट्रेनिंग रोज चलती रहती है। एक दृष्टि से ये सारे प्रयत्न हिंसा के तरीको को खोज रहे है। अणु-अस्त्र भी वहुत पीछे रह गए। अव जो अतीन्द्रिय शक्ति के अस्त्र है, उनका विकास हो रहा है। अतीन्द्रिय शक्ति का विकास हो रहा है अस्त्रों के क्षेत्र मे। वडी विचित्र स्थिति आ गई है। प्राचीन काल से हम सुनते है कि एक ऐसी विद्या का प्रयोग किया जाता जिससे शत्रु की सारी सेना नीद मे सो जाती। यह तो प्राचीन कहानी है, किन्तु आज के वैज्ञानिको ने भी ऐसे अस्त्र खोज निकाले है कि जिनके प्रयोग से शत्रु की सेना कर्त्तव्य-विमूढ वन जाती है और वह कुछ भी नही कर सकती, निकम्मी हो जाती है। एक पक्षीय जो करना होगा, वह हो जाएगा। अव यह भी स्थिति आविष्कृत हो गई है कि किसी को रणक्षेत्र में जाने की जरूरत नही। प्रयोगशाला मे वैठा-वैठा वैज्ञानिक यह घटित कर देता है। आज अतीन्द्रिय अस्त्रो की यह होड भी शुरू हो गई है। इनमे अमेरिका, रूस आदि देशो ने काफी विकास कर लिया है। अन्तरिक्ष युद्ध की स्थिति भी वन गई है। इतना तीव्र और वहु-आयामी प्रयत्न हो रहा है हिंसा के क्षेत्र मे, और अहिंसा के क्षेत्र मे कोई प्रयत्न नही हो रहा है। अहिंसा को मानने वाले तो स्वय लड रहे हैं। धर्म का क्षेत्र अहिंसा का क्षेत्र है पर उसे भी आज अहिंसा का क्षेत्र नही कहा जा सकता। उसमे आज इतनी साम्प्रदायिक कसाकसी, तनातनी है कि वह स्वय युद्ध के अखाडे जैसा वन गया है। आज अहिंसा स्वय दयनीय स्थिति मे है। फिर भी उसके लिए कोई प्रयत्न ही नही हो रहा है। उसके प्रति न आस्था है और न

प्रयत्न हो रहा है।

अहिंसा के विकास का सातवां विघ्न है—अप्रयोगात्मक भूमिका। आज अहिंसा का कोई प्रयोग नही हो रहा है। यदि प्रयोग हो तो किसी भी चीज का विकास हो सकता है। जब तक नया अनुसंधान नही होता, नई खोज नही होती, उसका कोई प्रयोग और प्रशिक्षण नही होता तब तक किसी चीज का विकास नही हो सकता।

अहिंसा के लिए न कोई अनुसधान हो रहा है, न कोई नया प्रयोग हो रहा है और न कोई प्रशिक्षण दिया जा रहा है। हमने कही नही देखा कि १०० आदमी अहिंसा की ट्रेनिंग ले रहे हो अथवा पूरे हिन्दुस्तान मे अहिंसा के प्रशिक्षण का कोई केन्द्र हो।

प्रयोग और प्रशिक्षण के बिना, अनुसधान या रिसर्च के बिना किसी भी चीज का विकास हो नही सकता। हमारे पास ज्यादा से ज्यादा है तो अहिंसा का सिद्धांत है या कुछ महापुरुषो के जीवन की घटनाएं और जीवनियां है। उनसे कभी-कभी थोडी प्रेरणा मिलती है, मस्तिष्क झंकृत होता है और मन मे यह भाव जागता है कि अहिंसा अच्छी है या उन-उन महापुरुषो ने इस प्रकार अहिंसा का जीवन जीया था।

पंजाब के राजा रणजीतसिंह जा रहे थे। अचानक एक पत्थर आया और महाराज के सिर पर लगा। महाराज के सिर पर कोई पत्थर लग जाए, कितनी भयानक बात थी, उस समय? चारो ओर से छानबीन शुरू हुई कि किसने पत्थर फेंका? सारे दौड़े। पता लगाते-लगाते एक पेड के नीचे पहुचे, जहां बुढिया खडी थी। वे उसे महाराज के पास लाकर बोले—महाराज, यही है जिसने आपके सिर पर पत्थर की चोट की है। इसी ने पत्थर फेका है, और कोई नही मिला। बुढिया बेचारी कांपने लगी। बडी विचित्र स्थिति थी। महाराज ने उससे पूछा—तुमने पत्थर फेंका? उसने कांपते स्वर मे कहा—हां, महाराज! मैंने फेका।' क्यों फेंका—महाराज ने पूछा? वह बोली—बडी गरीब हूं। दो दिन हो गए, खाने को कुछ मिला नही। ऐसी गरीबी मे जी रही हूं। छोटा लडका है। कुछ तो लाकर लडके को दू। पेड के नीचे खडी थी। फल तोडने को पत्थर फेंका, अचानक योग मिल गया कि वह पत्थर उधर नही गया, इधर आ गया और आपके सिर पर चोट लग गई। यह सही घटना है, अब चाहे सो करें।

महाराजा ने तत्काल अपने सैनिक अधिकारियो से कहा—'इसे कुछ अशर्फियां दो और तत्काल छोड दो।' सब दंग रह गए कि यह कैसा दण्ड? यह भी कोई दण्ड होता है? इसे तो फासी की सजा होनी चाहिए। भला, एक महाराज के सिर पर चोट लगे और उसका इनाम मिले? वे बोले नहीं। महाराजा ने कहा—'तुम नहीं जानते, पेड़ पर पत्थर फेंकने से पेड मीठा फल

देता है। जब पेड़ भी मीठा फल देता है तो मैं क्या कड़वा फल दूंगा ? यह कभी नही हो सकता। इसे इनाम देकर मुक्त कर दो।'

यह कितनी प्रेरक घटना है ! इससे आदमी सोच सकता है कि जिसका दिमाग शान्त और संतुलित होता है वह किस प्रकार का निर्णय लेता है और किस प्रकार अहिंसा का विकास करता है। अगर दिमाग असतुलित होता तो सीधा दण्ड दे देता कि जाओ, फासी पर लटका दो, मार डालो। किन्तु सतुलित दिमाग वाले का निर्णय अहिंसा से ओत-प्रोत होता है। ऐसी घटनाएं अहिंसा के लिए आदमी को प्रेरित करती है।

अहिंसा के सिद्धात अहिंसा के लिए प्रेरित करते है। अहिसा का सिद्धान्त है—जो तुम स्वयं नही चाहते, दूसरों के लिए वैसा मत करो। तुम्हें सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है तो दूसरो को तुम दु.ख मत दो, उन्हे भी कष्ट मत दो, उन्हे मत सताओ। यह सिद्धात अहिंसा के लिए प्रेरित करता है। ये सिद्धात और ये घटनाए हमारे मस्तिष्क को झकृत तो करती है, हमें अच्छी लगती हैं किन्तु हमारा बहुत साथ नही देती। एक बार सुना, मन में प्रेरणा जागी। सामने परिस्थिति आई तो घुटने टेक दिए, अहिंसा को विस्मृत कर बैठे। समस्या यह है कि आदमी केवल श्रवणप्रिय है। प्राचीन भाषा में श्रवण और आज की भाषा मे कहे तो पठन, दोनो एक ही बात है। क्योंकि पुराने जमाने मे पढने की स्थिति नहीं थी, कोरा सुना जाता था। गुरु कहता और शिष्य सुन लेता। लिखना नही होता था, अत पढने की बात नही थी। पुराने जमाने का सुनना और आज का पढना दोनो सम है। श्रवण की अगली भूमिका है—मनन। श्रवण और पठन—दोनो स्थितियो मे जितना श्रवण होता है, उसका २० प्रतिशत भी मनन नही होता, १० प्रतिशत भी नही होता। तीसरी भूमिका है निदिध्यासन। उससे तो आज मुक्ति ही मिल गई है। इन तीनो का योग ही यथार्थ स्थिति तक पहुचा सकता है। जीवन-विज्ञान की प्रक्रिया मे इस फार्मुले पर ध्यान दिया गया कि अच्छे सिद्धान्त को जानना, उस पर मनन करना यानी उसकी अनुप्रेक्षा करना और अनुशीलन करना, निदिध्यासन करना, ये तीनो बाते होती है तब किसी नई आस्था का निर्माण होता है। ज्ञान और आचरण की जो दूरी है यह तब तक नही मिट सकती जब तक ये तीनो बात नही आएगी। इन तीनो का समन्वय हुए बिना वह परिवर्तन नही किया जा सकता। हम खामी तो बहुत निकाल सकते हैं। शिक्षा प्रणाली के बारे मे अनेक खामिया निकाली गईं। आज से नही, स्वतंत्र भारत के आदिकाल से ही यह कथन चल रहा है कि हमारी शिक्षा प्रणाली अच्छी नही है। खामिया तो बहुत निकाली गई किंतु उनमे क्या सुधार होना चाहिए, क्या रचनात्मक परिवर्तन होना चाहिए, यह बहुत कम सामने आया।

एक चित्रकार ने बाजार मे अपना चित्र टांग कर नीचे लिख दिया

कि इसे देखे और जहा-जहा कमी हो वहां चिह्न लगा दें। सायं जाकर देखा, पूरा चित्र चिह्नो से भर गया था। उसने सोचा, बडा अनर्थ हो गया।

दूसरे दिन उसने एक चित्र फिर टांगा, लिख दिया कि जहां कोई खामी है, सुधार दे। सांझ को जाकर देखा तो चित्र वैसा का वैसा मिला, कोई परिवर्तन नही।

हम कमिया बहुत निकाल सकते हैं, त्रुटियों की ओर हमारा ध्यान जा सकता है, विन्दु लगा सकते है, किन्तु जहा सुधारने वाली बात आती है तो वहां कुछ भी नही। हम केवल खामी की बात न पकडे, कुछ सृजन करें।

दो शब्द है—थियोरेटिकल और प्रेक्टिल—सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक। प्रत्येक क्षेत्र मे ये दोनो अपेक्षित है। धर्म का क्षेत्र हो या शिक्षा का क्षेत्र हो, हम सैद्धान्तिक बात को भी समझे और उसका प्रयोगात्मक पक्ष भी समझे। क्या आदत का वदलना और नई आस्था का पैदा करना इसका अपवाद हो सकता है? कोई अपवाद नही। आस्था को पैदा करने मे भी हमे दोनों बातो का सहारा लेना पडेगा। पहला पक्ष है—सैद्धान्तिक, जिसमें दो वाते आती है—श्रवण और मनन। सिद्धान्त को जानना और उस पर मनन करना, उसकी अनुप्रेक्षा करना, उसका अनुचिंतन करना।

दूसरी वात है—प्रयोगात्मक—निदिध्यासन, अभ्यास करना। सुनो, ज्ञान करो, विवेक करो और प्रत्याख्यान करो। जो छोडने योग्य है उसका प्रत्याख्यान करो और जो उपादेय है उसका अभ्यास करो। यह एक पूरी प्रक्रिया है परिवर्तन की। इस प्रक्रिया को अपनाए विना आस्था को वदलने की वात कभी सभव नही वनेगी।

हम 'अहिंसा के विकास' की चर्चा कर रहे है और इसलिए कर रहे है कि स्वस्थ समाज की रचना का यह एक महत्त्वपूर्ण आधार है। अहिंसा और उसकी आस्था को उत्पन्न करने का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है—श्रवण, मनन और निदिध्यासन। जव तक शिक्षा के साथ या धर्म की आराधना के साथ ज्ञान और क्रिया—दोनो का योग नही होगा, तव तक नही लगता कि इस समस्या का समाधान हो जाए। इस योग के विना न तो धार्मिक अच्छा धार्मिक वन सकता है और न विद्यार्थी अच्छा विद्यार्थी वन सकता है।

समाज और नैतिकता के विकास के लिए दो वाते जरूरी है—ज्ञान भी हो और अच्छा मानवीय व्यवहार भी हो। मानव मानव के प्रति सद् व्यवहार करे, वुरा व्यवहार न करे। यानी ज्ञान और क्रिया का योग हो। यह तभी सभव है जवकि यह पूरा सिद्धान्त—श्रवण, मनन और निदिध्यासन चले। आज सिद्धान्त की वात तो चल रही है, पर अभ्यास वाली वात नही चल रही है।

जीवन-विज्ञान का मूल सिद्धान्त है कि धर्म और विद्या—दोनो क्षेत्रों में सिद्धान्त और प्रयोग का योग होना चाहिए।

सामाजिक मूल्यों का आधार–सत्य

सत्य विराट् और अनन्त है। अनन्त के विषय मे कल्पना नही की जा सकती। कल्पना तर्क मे उलझ जाती है।

विज्ञान ने एक यत्र बनाया है। उस टेलिस्कोप से दो अरब प्रकाश-वर्ष की दूरी पकड ली जाती है। दो अरब प्रकाश वर्ष कितनी दूरी का द्योतक है, कल्पना करना भी दुष्कर होता है। एक सेकेण्ड मे एक लाख छियासी हजार मील की गति। इस गति से एक घटा, एक दिन-रात, एक मास, एक वर्ष। यह है एक प्रकाश-वर्ष की दूरी। ऐसे दो अरब प्रकाश-वर्ष। इस दूरी को वह टेलिस्कोप पकड लेता है। असंख्य नीहारिकाएं, असख्य द्वीप और समुद्र। आदमी सोचता है तो दिमाग चकरा जाता है। पर यह है सत्य। अब हम सोचे, कितना विराट् है सत्य। किन्तु इस विराट् सत्य को समझने की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति 'कूप-मडूक' ही प्रमाणित हो रहा है।

सत्य के पांच प्रकार या पाच अर्थ है—

(१) अस्तित्व सत्य
(२) नियम सत्य
(३) ऋजुता सत्य
(४) अविसवादिता सत्य
(५) प्रामाणिकता सत्य

१. अस्तित्व सत्य

सत्य का एक अर्थ है—अस्तित्व अर्थात् जगत् का अस्तित्व। हमारा अस्तित्व-जगत् इतना वडा है कि उसके विषय में एक भाषा मे कुछ कह पाना सभव नही है। अभी मुझे अस्तित्वात्मक सत्य की व्याख्या नही करनी है।

२. नियम सत्य

सत्य का एक अर्थ है—नियम, जागतिक नियम, सार्वभौम नियम। समय का चक्र अविरल गति से घूम रहा है, यह जागतिक नियम है। दिन होना, रात होना और यह क्रम निरन्तर चलते रहना, यह जगत् का नियम है। गति, स्थिति और परिवर्तन—ये तीनो जागतिक नियम है। ये सब सत्य हैं, किन्तु इनकी व्याख्या भी अभी प्रासंगिक नही है।

अस्तित्व सत्य और जागतिक सत्य—ये दोनो सत्य समाज के साथ सीधे जुड़े हुए नही है। प्रत्यक्षत· इनसे समाज के साथ सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सकता।

हमारे नियम-सत्य का संदर्भ दूसरा है। वह है मनुष्यकृत नियम। वह

भी एक सत्य है। मनुष्य नियम बनाता है। उसका पालन होता है और समाज के साथ उसका सबध जुड़ा रहता है। चाहे धर्म-व्यवस्था के नियम हों या समाज-व्यवस्था के नियम हो, वे सब सत्य है। उन्ही के आधार पर धर्म-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था का निर्णय होता है। एक धर्मगुरु अपने धर्म की आचार-सहिता, मर्यादा और परम्परा के आधार पर निर्णय देता है। एक न्यायाधीश कानून के सविधान के आधार पर निर्णय करता है और समाज-व्यवस्था का सचालक समाज-सहिता के आधार पर निर्णय देता है। यह सब सत्य है। इसमे सचाई है।

ये सारे नियम जागतिक या सार्वभौम नही है। ये सब कृतक है, मनुष्य द्वारा किए हुए है। ये सत्य है और इनसे समाज का सम्बन्ध जुड़ता है। इनसे सामाजिक जीवन के साथ सबंध स्थापित होता है। इनसे समाज प्रभा-वित होता है।

नियमो का बहुत बडा जाल बिछा हुआ है। समय-समय पर नियम बनते रहते है। नये नियम बनते है, पुराने मिटते है और कुछ नियमो मे परिवर्धन, परिशोधन होता है। नियमो का पालन भी होता है और उल्लंघन भी होता है। नियमो का अतिक्रमण असत्य या अन्याय माना जाता है।

३. ऋजुता सत्य

सत्य का एक अर्थ है—ऋजुता। यह आध्यात्मिक सत्य है। ऋजुता का अर्थ है—सरलता। ऋजुता का अर्थ है—अमाया, अछलना, अप्रवचना। माया असत्य है। छलना और प्रवचना असत्य है। ऋजुता के तीन प्रकार है—मन की ऋजुता, वचन की ऋजुता और शरीर की ऋजुता। ये तीनो सत्य हैं। यह है मानसिक सत्य, वाचिक सत्य और कायिक सत्य। यह है भावात्मक सत्य। छिपाना असत्य है। आदमी छिपाता बहुत है। वह अपनी कमजोरी और अप्रकटनीय स्थिति को छिपाता है। जो पाने की लालसा है उसे भी छिपाता है। इस प्रवृत्ति ने सदेह को जन्म ही नही दिया, उसे बढाया भी है। ऋजुता मे सदेह नही उभरता, अविश्वास पैदा नही होता। संदेह मे शक्ति का अपव्यय होता है। सदेह के अभाव मे आदमी पचीस प्रतिशत शक्ति बचा लेता है। यह शक्ति के अपव्यय का न्यूनतम अनुमान है। मायाचार से शक्ति बहुत खर्च होती है।

सदेह की कोई सीमा नही है। आदमी प्रत्येक प्रवृत्ति मे सन्देह कर लेता है। सदेह के कारण अनेक कल्पनाए और अनेक विचार उत्पन्न होते हैं और तब आदमी न जाने क्या-क्या नही करता।

आदमी घाट पर सो रहा था। खाट के नीचे पानी मे भरा लोटा रखा था। प्रात.काल से पूर्व वह उठ गया और शौच के लिए बाहर गया। शौच मे

निवृत्त होकर घर आया। हाथ धोने बैठा। उसने देखा, हाथ लाल है। मन में संदेह हुआ। तत्काल पुनः जंगल मे गया। देखाकि जहा उसने शौच किया था, वहा की जमीन भी लाल है। वह भारी मन से घर लौटा और खाट पर सोकर आहे भरने लगा। उसने घरवालो से कहा—जल्दी डाक्टर को बुला लाओ। मेरे शरीर से वहुत सारा रक्त बह गया है। मेरा शरीर शिथिल हो चुका है। मैं उठ नही सकता। डाक्टर आया। जाच की, सव कुछ ठीक था। इतने में ही बच्चा दौडा-दौडा आकर वोला—मैंने इस खाट के नीचे लाल रंग से भरा लोटा रखा था, वह कहां गया ? खटिया पर पडे मरीज ने सुना और पूछा—लोटे मे लाल रंग घुला था ? बच्चा वोला—हा। मरीज उठा और चलने लगा। उसकी कमजोरी समाप्त हो गई।

संदेह के कारण शक्ति का अत्यधिक अपव्यय होता है। छिपाने की बात से सदेह उत्पन्न होता है। यदि सदेह और अविश्वास न हों तो अनेक दुर्घटनाएं और सघर्ष समाप्त हो सकते है। पारिवारिक और सामाजिक कलहों का मुख्य कारण सदेह होता है। सदेह के कारण बडे-वडे साम्राज्य नष्ट होते देखे गए है।

महावीर और बुद्ध के समय मे लिच्छवी गणराज्य एक शक्तिशाली गण था। महाराज चेटक गणाधिराज थे। कोणिक का अमात्य वत्सकार कपट के साथ, उस गण में सम्मिलित हुआ। उसने सामन्तों से मेलजोल बढाया और उनमे परस्पर संदेह के वीज वो डाले। किसी को कुछ और किसी को कुछ कहकर सवमे अविश्वास पैदा कर दिया। वत्सकार ने देखा कि सभी सामंत एक दूसरे के प्रति सदेह के विष से ग्रस्त हो चुके है, तब उसने गुप्तरूप से अपने महाराज कोणिक को आक्रमण करने के लिए आह्वान किया। कोणिक अपनी सेना के साथ शत्रु-सीमा पर आ पहुचा। महाराज चेटक के पास सवाद पहुंचा और उन्होने रणभेरी बजाने का आदेश दे दिया। रणभेरी वजी, पर एक भी योद्धा रण के लिए तैयार नही हुआ। सव एक दूसरे से कहने लगे, भाई ! हम तो कायर है, अशील है। हम क्या लडेंगे ? जो वीर और शीलवान् हो वे जाएं रण मे। चेटक आवाक् रह गए। कोणिक की सेना ने विना किसी अवरोध के नगर मे प्रवेश किया और विशाल गणतन्त्र को अपने अधीन कर डाला। न युद्ध हुआ और न रक्त वहा। विना कुछ किए ही विजय प्राप्त हो गई। एक महान् गणतत्र का पतन हो गया। पतन का मूल कारण था सदेह।

इस ऋजुतात्मक सत्य का अतिक्रमण करने के कारण समाज ने कितनी कालरात्रिया भोगी हैं, कितनी कठिनाईयो का सामना किया है ? ऋजुता में सदेह नही पनपता। संदेह नही होता है तो अनेक दुर्घटनाएं अपने आप टल जाती है। मनमुटाव का एक वड़ा कारण संदेह है, अऋजुता है।

अभी हम आमेट मे थे। एक साध्वी मेरे पास आकर बोली—आचार्यश्री की मेरे पर कठोरदृष्टि है। मैं जब भी वन्दना करने जाती हूं, तब उनकी भृकुटी तनी हुई देखती हूं।' मैने कहा—ऐसा तो नही होना चाहिए। मैंने आचार्यश्री से उस साध्वी के विषय मे पूछा। आचार्यश्री बोले—'मैं क्यो उस पर कठोरदृष्टि करू। मैं अपने काम मे होता हू, मूड मे होता हूं, चिन्तन या विचार मे होता हू। उस समय मुद्राएं भिन्न-भिन्न होती है। वह उस समय वन्दना करने आई होगी, जब मेरी वह कठोर-मुद्रा होगी। पर मैं बिना कारण ही उस पर क्यों कठोरदृष्टि रखू ? मैंने साध्वी से आचार्यश्री की बात कही और उसका संदेह मिट गया, वह विश्वस्त हो गई।

सत्य का एक अर्थ है—ऋजुता, अछुपाव। छुपाव सारी बुराइयो की जड़ है। कानून एक सत्य है, नियम एक सत्य है। पर बेचारा कानून या नियम क्या करे, जब समाज मे छिपाने की अधिक प्रवृत्ति हो। घुमाव मे प्रत्यक्षतः बुराई नही होती, बुराई भूमिगत होती है। राशन का नियम नही है तो दुकानो मे अनाज का भडार भरा है। राशन का नियम आया और दुकानो से अनाज गायब। सब भूमिगत हो जाता है। यह सब छिपाव के कारण होता है। यह सब ऋजुता के अभाव मे होता है।

प्रश्न होता है कि समाज मे ऋजुता का विकास किया जा सकता है ? यदि समाज को यथार्थ के आधार पर चलना है, व्यवहार को मानवीय धरातल पर चलना है, उसे स्नेहपूर्ण और मृदुतापूर्ण बनाना है तो ऋजुता को प्रश्रय देना ही होगा और छलना, प्रवंचना, सदेह तथा अविश्वास के भूत को भगाना ही होगा। अन्यथा व्यक्ति-व्यक्ति के दुराव को हम मिटा नही पाएगे। दो व्यक्ति पास-पास बैठे है, पर उनके मन की दूरी हजारो मील की है। दो व्यक्ति हजारो मील दूर है, पर उनका मन निकट है, समीप है। मन की दूरी का कारण है सदेह और छिपाव। मन की निकटता का कारण है ऋजुता और स्पष्टता।

प्रत्येक व्यक्ति मे अ-ऋजुता का भाव है। यह उसकी दुर्बलता है। वह इस कमजोरी के कारण स्वार्थ और मोहवश अनेक बुराइयो मे फसता है। उसकी यह कमजोरी छूटती नही क्योकि छुपाव मे उसका तीव्र रस है।

४. अविसंवादिता सत्य

सत्य का एक अर्थ है—अविसवादिता अर्थात् कथनी और करनी की समानता। सामाजिक जीवन के साथ इसका बहुत बडा सम्बन्ध है। इससे समाज प्रभावी बनता है।

जब तक व्यक्ति मे राग-द्वेष है, प्रियता-अप्रियता का द्वन्द्व है, तब तक कथनी और करनी, ज्ञान और आचरण की दूरी मिट नही सकती। उनमें अविसंवादिता आ नही सकती कथनी और करनी की विसवादिता को मिटाना,

ऊचे शिखर पर आरोह करने जैसा कार्य है।

जैन परपरा मे वीतराग और अवीतराग की सात कसौटियां मान्य हैं। उनमे एक है विसंवादन। जिसमे विसवादन होता है, कथनी और करनी में समानता नही होती, वह है अवीतराग और जिनमें कथनी और करनी की समानता होती है, अविसवादन होता है वह है वीतराग। राग-ग्रस्त व्यक्ति जैसा कहता है वैसा करता नही। यह उसका लक्षण है। पर मात्रा में तरतमता होती है। यह एक मान्य तथ्य है कि इस दूरी को, ज्ञान और आचरण की दूरी को पूर्णत. मिटाया नही जा सकता, पर कम किया जा सकता है। इसलिए साधना का, धर्म और अध्यात्म का प्रयत्न यह होना चाहिए कि वह इस दूरी को कम करने की दिशा मे जनता का मार्गदर्शन करे। प्रत्येक साधनानिष्ठ, धर्मनिष्ठ और अध्यात्मनिष्ठ व्यक्ति दूरी कम करने की दिशा मे प्रस्थान करे तो जनता बहुत लाभान्वित हो सकती है।

राजनीति के क्षेत्र मे वह दूरी चिन्ता का विषय नही है, क्योकि वह क्षेत्र कूटनीति का है और उसकी बुनियाद इसी दूरी पर आधृत है। सामाजिक क्षेत्र मे यह दूरी कुछ समस्याएं पैदा करती है। वहां भी वह चलती है, पलती है। यह आश्चर्य की बात नही हैं। किन्तु आश्चर्य तब होता है जब आत्मा और चैतन्य के प्रति जागृत व्यक्ति भी उस दूरी को पालता है, बढाता है। इसका स्पष्ट हेतु है कि व्यक्ति ने अहंकार और ममकार से अभी छुटकारा नहीं पाया है। ये दो हेतु उस दूरी के कारण है।

कथावाचक कथा कर रहा था। सैकड़ों व्यक्ति सुन रहे थे। उस परिषद् मे एक सेठ बैठा था। वह अत्यन्त उदास था। कथा पूरी हुई। लोग बिखर गए। कथावाचक ने सेठ को उदासी का कारण पूछा। सेठ ने कहा—मेरा जवान लडका मर गया। उसका दु.ख भुलाना चाहता हूं, पर वह और गहरा होता जा रहा है। कथावाचक ने उसे आश्वस्त करते हुए धर्म का उपदेश दिया और संसार की असारता तथा आत्मा की अमरता की बात बताई। कथावाचक बोला—'सेठजी! दुःख क्यों करते हैं? आत्मा अमर है। वह मरती नही केवल चोला बदलता है। यह संसार है।' कथावाचक समझा ही रहा था कि इतने मे एक जवान लडके ने आकर कथावाचक के कान में कुछ कहा और कथावाचक रोने लगा। कथावाचक की आखो में आंसू टपकने लगे। सेठ अपना दुःख भूल गया। उसने पूछा—अरे, आप क्यो रो रहे है? कथावाचक रुआसा-सा होकर बोला—'सेठजी! गजब हो गया। मेरी बकरी मर गई। जिसका मैं प्रतिदिन दूध पीता था, वह आज नही रही।' सेठ ने कहा—अभी तो आप मुझे आश्वासन दे रहे थे और आप स्वय एक बकरी के लिए रो रहे हैं? वह बोला—'तुमने मर्म को नही समझा। लड़का मेरा नही था, बकरी मेरी है।'

ममत्व विकट समस्याए पैदा करता है। इसके कारण आदमी का सिद्धात और आचरण अलग-थलग जा पड़ते हैं, कथनी और करनी की दूरी बढ़ जाती है। यह सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाली बहुत ही बडी समस्या है।

५. प्रामाणिकता सत्य

समाज का अर्थ है—व्यवहार। दस-बीस आदमियो का एकत्रित हो जाना ही समाज नही है। समाज का तात्पर्य होता है—लेनदेन, विनिमय, व्यवहार। समाज की यही परिभाषा है। हजार आदमी हो या हजार पशु हो वह समाज नही कहलाता। जहा परस्पर विनिमय होता है, व्यवहार होता है वह समाज कहलाता है। सस्कृत मे दो शब्द है—समाज और समज। जहां व्यवहार होता है वह समाज और जहां व्यवहार की कोई गुजाइश ही नही होती, वह है समज। पशुओं का समाज नहीं होता। उनका समूह समज कहलाता है। आदमियो का समूह समाज कहलाता है, क्योंकि वहां विनिमय है।

आज के समाज की भयकर समस्या है व्यवहार की अप्रामाणिकता। अनैतिकता, क्रूर और जटिल व्यवहार के कारण समाज मे हजारों समस्याए उत्पन्न हुई है। सामाजिक मूल्यों का विकास इसलिए नही हो रहा है कि आदमी मे प्रामाणिकता नही है। एक समय था, जब भारतवासी प्रामाणिकता मे बढे-चढे थे। उस समय यहां घी-दूध की नदिया बहती थी। चोरी, डकैती का नामोनिशान नही था। बडे से बडा राज्याधिकारी प्रामाणिकता से कार्य करता था। महामात्य चाणक्य मगध साम्राज्य का सर्वेसर्वा था। जब वह राज्य का कार्य करता तब राज्य का दीपक जलाता और जब वह अपना व्यक्तिगत कार्य करता तब अपने घर का दीया जलाता। कितनी प्रामाणिकता? आज भी कुछेक राज्याधिकारी ऐसे है जो सरकारी काम मे सरकार की मोटर का उपयोग करते है और अपने व्यक्तिगत या पारिवारिक कार्य मे व्यक्तिगत मोटर का अथवा बस आदि का उपयोग करते हैं। यह है प्रामाणिक व्यवहार।

यदि कोई साधु गृहस्थ के घर से कपडे सीने के लिए सूई की याचना कर सूई लाता है तो वह उस सूई से कपडे ही सी सकता है। उस सूई का उपयोग दूसरे कार्य मे नही कर सकता। यदि करता है तो वह असत्य का दोषी होता है कपडे काटने के लिए कैंची की याचना कर कैंची लाता है और यदि वह उससे कागज काट लेता है तो वह असत्यभाषण का दोषी होता है। यह है प्रामाणिकता।

प्रामाणिक व्यवहार जीवन का आधार है। इससे व्यक्तित्व निखरता है।

जीवन-विज्ञान की शिक्षा पद्धति मे विद्यार्थी को प्रामाणिक जीवन जीने की कला सीखाई जाती है। यदि सत्य के ये पाचो अर्थ विद्यार्थी के जीवन मे समविष्ट होते है तो वह विद्यार्थी राष्ट्र का उन्नत नागरिक बन सकता है और उसका व्यक्तित्व समाज के लिए दीप-स्तभ बन सकता है। हम उसे आत्मा परमात्मा, ईश्वर आदि परोक्ष तत्त्वो का ज्ञान कराए पर उसे दार्शनिक जटिलताओ मे न उलझाएं। ये सारे परोक्ष है, अमूर्त है। इनके मडन-खंडन से विद्यार्थी कुछ प्राप्त कर सकेगा, ऐसा नही लगता। इसलिए हम उसे व्यवहार के धरातल पर सही ढग से चलना सिखाए और उसका जीवन उन्नत प्रामाणिक और सुखी बन सके, इस ओर उसे प्रेरित करे।